—धर्म, सदाचार और नैतिकता विषयक निबन्धों का संग्रह—



महात्मा टॉल्सटॉय



१९५४

सस्ता साहित्य मण्डल-प्रकाशन

विषय-सूची

धर्म और सदाचार

: १ :

धर्म क्या है ?

संसार के सभी मनुष्य-समाजों के जीवन में ऐसे खास अवसर आये हैं जब धर्म पहले अपने मूल उद्देश्य से विमुख हुआ, फिर धीरे-धीरे इतना अलग होता गया कि अपने उद्देश्यों को ही भुला बैठा और अंत में कर्मकांड में फंसकर जड़वंत बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन पर उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन कम होता गया।

ऐसे अवसरों पर शिक्षित अल्प-संख्यक प्रचलित धार्मिक उपदेशों पर विश्वास करना छोड़ देते हैं। वे सिर्फ अपनी श्रद्धा का दिखावा करते हैं, कारण उन्हें जन-साधारण को प्रचलित समाज-संगठन में बनाये रखने के लिए इस प्रकार का दिखावा करना आवश्यक प्रतीत होता है। लेकिन जनता, जो यद्यपि अकर्मण्यतावश धर्म के ऊपरी रूपों से चिपटी रहती हैं, धार्मिक आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना छोड़ देती है। वह सिर्फ सामाजिक रूढ़ियों और सरकारी विधानों का अनुसरण करने लगती है।

भिन्न-भिन्न मनुष्य-समाजों में बराबर यही होता रहा है। लेकिन हमारे ईसाई समाज में इस समय जो कुछ हो रहा है वैसा पहले कभी नहीं हुआ। समाज का वह अल्पसंख्यक समुदाय, जिसके पास धन है, सत्ता है और शिक्षा है तथा जिसका जनता पर सबसे अधिक प्रभाव है, उसने प्रचलित धर्म पर-से न सिर्फ अपना विश्वास ही उठा लिया, बल्कि उसे इस बात का भी यकीन हो गया कि धर्म जैसी किसी चीज की अब कोई आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, वह इससे भी आगे बढ़ गया। उसको चाहिए तो यह था कि वह उन लोगों पर, जो आम तौर पर माने जाने वाले

धर्म की सत्यता में संदेह प्रकट करते हैं, यह प्रभाव डालता कि वे ऐसी धार्मिक शिक्षाओं को ग्रहण करें जो प्रचलित धर्म की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और वुद्धिगम्य हों, लेकिन उसने इसके विपरीत जनता को यह वात मानने के लिए प्रेरित किया कि धर्म-मात्र का जमाना गुजर गया और अव वह न सिर्फ निरुपयोगी, वल्कि शरीर के किसी विकारयुक्त अंग की भांति समाज का एक हानिकर अंग वन गया है।

ऐसे लोग धर्म को हमारी आन्तरिक अनुभूति द्वारा, व्यक्त होने वाली चीज नहीं मानते। वे इसको वाह्य वस्तु समझते हैं, मानो वह एक रोग है जो कुछ लोगों को लग जाता है और जिसका पता वाहरी लक्षणों द्वारा ही लगा सकते हैं।

इनमें से कुछ लोगों का यह खयाल है कि धर्म की उत्पत्ति इस वात से हुई कि लोग प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में आत्मा का अस्तित्व मानने लगें। दूसरे कुछ लोगों की राय में मृत पूर्वजों के साथ संवंध स्थापित हो सकने की कथित संभावना के कारण धर्म का जन्म हुआ। इसके अलावा कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह मानते हैं कि धर्म की उत्पत्ति का कारण लोगों का प्रकृति की शक्तियों से भय खाना है। लेकिन हमारे जमाने के दिग्गज पंडित कहते हैं कि अव विज्ञान ने इस वात को साबित कर दिया है कि वृक्षों और पत्थरों में आत्मा नहीं हो सकती, न हमारे मरे हुए पूर्वज इस वात को जानते हैं कि उनके जीवित वंशज क्या करते हैं, और प्रकृति की शक्तियों का उद्‌गम स्रोत क्या है। इसका मतलव यह हुआ कि धर्म की अव कोई आवश्यकता नहीं है और न उन तमाम वंधनों की ही आवश्यकता है जिनसे धार्मिक विश्वासों के कारण लोगों ने अपने आपको जकड़ रखा था।

इन दिग्गज विद्वानों की सम्मति है कि धार्मिक युग अज्ञान का युग था। यद्यपि उस युग के कुछ चिह्न अव भी कहीं-कहीं वचे हुए हैं, तथापि मानवता उसको पार कर चुकी है। इसके वाद अध्यात्म विज्ञान का जमाना आया, लेकिन वह भी अव गुजर चुका है। हम शिक्षित, सभ्य और

संस्कृत लोग जिस ज़माने में जीवन-यापन कर रहे हैं वह निश्चयात्मक विज्ञान का जमाना है। इस विज्ञान ने धर्म का स्थान ले लिया है और वह मनुष्य-जाति को उन्नति के उस ऊंचे शिखर पर पहुंचा देगा, जिस पर अंध-विश्वास पैदा करने वाली धार्मिक शिक्षा के अधीन रहते हुए भी वह नहीं पहुंच पाती।

सन् १९०१ के आरम्भ में वर्थेलो नामक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी ने एक भाषण दिया था।[1] उन्होंने अपने श्रोताओं से कहा कि धर्म का जमाना गुजर चुका है। अब धर्म के स्थान पर विज्ञान को बिठा देना चाहिए। मैं इस भाषण का जिक्र यहां इसलिए कर रहा हूं कि इस प्रकार का यह पहला भाषण इस समय मेरे हाथ में है। दूसरे यह भाषण एक विश्व-विख्यात विज्ञान वेत्ता द्वारा ऐसे नगर में दिया गया है जो शिक्षित संसार की राजधानी है। लेकिन इस प्रकार के विचारों का प्रचार विविध रूपों में तत्वज्ञान-संबंधी गम्भीर निबंधों से लगा कर समाचार पत्रों के साधारण लेखों तक के द्वारा निरन्तर और खुले तौर पर किया जा रहा है।

उपर्युक्त भाषण में श्रीयुत वर्थेलो कहते हैं कि प्राचीन काल में मनुष्य जाति को प्रेरित करने वाली दो प्रेरक शक्तियां थीं : शक्ति और धर्म। लेकिन अब ये दोनों प्रेरक शक्तियां अनावश्यक हो गई हैं; क्योंकि इनका स्थान अब विज्ञान ने ग्रहण कर लिया है। विज्ञान से वर्थेलो का मतलब, विज्ञान के तमाम दूसरे क्षेत्रों की भांति, स्पष्टतः उस विज्ञान से है, जिसका संबंध मनुष्य की जानकारी के संपूर्ण पदार्थों से है। इस विज्ञान में रूपता है, सजातीयता है और वह ऐसे साधनों का स्वामी है कि जिस निष्कर्ष पर वह पहुंचता है वह एकांत रूप से सत्य ही होता है। लेकिन सच बात तो यह है कि इस प्रकार के किसी विज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है और जिस चीज

[1] देखये, 'रिव्यू डि पेरिस', जनवरी १९०१

को आजकल लोग विज्ञान के नाम से पुकारते हैं वह केवल अधूरे और असंवद्ध ज्ञानकणों का संग्रह-मात्र है। इन ज्ञान-कणों में से अनेक बिल्कुल निरुपयोगी हैं। ये शुद्ध सत्य प्रकट करने के बजाय बहुधा हमें भद्दे भ्रमजालों में डाल देते हैं। जिन बातों को आज सत्य बताया जाता ह उन्हीं का खण्डन कर दिया जाता है। यह स्पष्ट है कि धर्म का स्थान ग्रहण करने वाली जिस वस्तु की वर्थेलो कल्पना करते हैं उसका अस्तित्व ही नहीं है। फलतः श्रीयुत वर्थेलो और उनके मत को मानने वाले व्यक्तियों का यह दावा कि विज्ञान धर्म का स्थान ग्रहण कर लेगा, सर्वथा मनमाना दावा है। इसका आधार वह अयथार्थ श्रद्धा है जो विज्ञान को अचूक समझती है, किंतु यह वैसा ही विश्वास है जैसा यह विश्वास कि पुरोहित धर्म अचूक धर्म है।

इसके बावजूद ऐसे व्यक्ति मौजूद हैं जो शिक्षित समझे जाते हैं या जो अपने आपको शिक्षित समझते हैं। उन्हें पक्का यकीन है कि ऐसे विज्ञान का अस्तित्व है जिसे धर्म का स्थान ले लेना चाहिए और यह स्थान ले भी सकता है।

वे तो यहां तक मानने लग गये हैं कि उस विज्ञान ने धर्म का स्थान ले भी लिया है।

"धर्म पुराना पड़ गया है; विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु में श्रद्धा रखना अज्ञान है; जो कुछ आवश्यक है, वह सब विज्ञान जुटा देगा और इसलिए हरेक मनुष्य को अपने जीवन में विज्ञान के पथ-प्रदर्शन में काम करना चाहिए"—वैज्ञानिक ऐसा कहते और सोचते रहते हैं और साधारण श्रेणी के वे लोग भी जो हालांकि वैज्ञानिक नहीं हैं, किन्तु वैज्ञानिकों में विश्वास रखते हैं, उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं कि धर्म गये-गुजरे जमाने का अन्ध-विश्वास है और इसलिए अब हमें जीवन में विज्ञान को ही अपना पथ-प्रदर्शक मानना चाहिए। इसका असली तात्पर्य यह हुआ कि जीवन में हमारा कोई पथ-प्रदर्शक न हो। कारण कि विज्ञान (जिसका कि उद्देश्य यह है कि जो कुछ है उसीका अध्ययन करना है,)

हमारा किसी प्रकार मार्ग-दर्शन नहीं कर सकता।

: २ :

हमारे जमाने के उद्भट विद्वानों ने तय कर दिया है कि अब धर्म की कोई आवश्यकता नहीं और यह भी कि विज्ञान धर्म का स्थान ले लेगा अथवा ले चुका है। लेकिन फिर भी यह सत्य अमिट है कि धर्म के विना न तो पहले और न अब कोई मनुष्य-समाज और विवेकवान पुरुष जिन्दा रहा है, न रह सकता है। 'विवेकवान पुरुष' इस वाक्यांश का मैंने जान-बूझकर प्रयोग किया है; क्योंकि एक अविवेकी पुरुष पशुओं की भांति विना धर्म के भी जिन्दा रह सकता हैं, लेकिन विवेकी पुरुष धर्म के विना नहीं रह सकता। कारण कि धर्म ही उसका आवश्यक पथ-प्रदर्शन कर सकता है, उसको बता सकता है कि उसको कौन-सा कार्य करना चाहिए, कौन काम पहले करना चाहिए और कौन वाद में। विवेकवान पुरुष की यह विशेष प्रकृति होती है कि वह प्रत्येक वस्तु को बुद्धि की कसौटी पर कसता है, इसलिए वह विना धर्म के जीवित नहीं रह सकता। प्रत्येक पशु अपने सारे काम उनके प्रत्यक्ष परिणामों को दृष्टि में रखकर करता है। इससे मेरा तात्पर्य उन कार्यों से नहीं है जो उसको अपनी तात्कालिक जरूरतों की पूर्ति के लिए करने पड़ते हैं। अपनी समझ के अनुसार परिणामों पर विचार करके वह तदनुसार आचरण करता है। वह सदा अपनी समीक्षा के अनुसार विना किसी हिचकिचाहट के एक ही प्रकार से काम किया करता है। उदाहरणार्थ, शहद की मक्खी इसलिए शहद एकत्र करने के लिए उड़ती है और छत्ते में शहद एकत्र करती हैं कि जाड़े के मौसम में उसको अपने और अपने बच्चों के लिए भोजन की आवश्यकता होगी। इस खयाल के अलावा वह न तो और कोई वात जानती है और न जान सकती है। जब कोई पक्षी अपना घोंसला वनाता है अथवा उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा को और दक्षिण दिशा से उत्तर दिशा को प्रयाण करता है तो वह भी इसी विचार से प्रभावित

होकर काम करता है। प्रत्यक्ष और तात्कालिक आवश्यकता को पूरा करने की अवस्था से अलग जव कोई जानवर पूर्वकल्पित परिणामों के खयाल से किसी काम को करता है तो यह इसी प्रकार का आचरण है। परन्तु मनुष्य के लिए यह नियम नहीं है। मनुष्य और पशु के वीच में जो भेद है वह यही है कि पशु की वौद्धिक शक्तियां, जिन्हें हम अन्तःप्रेरणा (Instinct) कहते हैं, उसी तक सीमित होती हैं; किंतु मनुष्य की मौलिक दर्शन-शक्ति है उसका विवेक। जव कोई मधुमक्षिका मधु-चयन करती है तो उसको कभी इस वारे में शक नहीं होता कि शहद इकट्ठा करना अच्छा है या वुरा; लेकिन मनुष्य अपनी फसल काटते समय यह जरूर सोचेगा कि भावी फसलों की पैदावार तो कम नहीं हो जायगी और कहीं वह अपने पड़ौसी के मुंह का ग्रास तो नहीं छीन लेगा। वह इस वात पर आश्चर्य प्रकट किये विना भी नहीं रह सकता है कि जिन वच्चों का वह पालन-पोषण कर रहा है वे आगे चल कर कैसे वनेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि इसी प्रकार अपने प्रत्येक कार्य में वह विवेक-वुद्धि का सहारा जरूर लेगा। एक समझदार व्यक्ति आचरण-संवंधी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों का अन्तिम निपटारा नहीं कर सकता; क्योंकि वह इस वात को भली भांति जानता है कि उसके कार्यों के अनेक परिणाम निकल सकते हैं। प्रत्येक वुद्धिमान मनुष्य जानता है, अथवा कम-से-कम अनुभव करता है कि जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों के संवंध में वह न तो अपनी व्यक्तिगत भावनाओं और न अपने कार्यों के तात्कालिक परिणामों के खयाल से प्रेरित हो सकता है। इसका कारण यह है कि जो परिणाम उसको दृष्टिगोचर होते हैं वे इतने वहुसंख्यक और विविध और वहुधा एक-दूसरे से इतने विपरीत होते हैं कि वे उसके तथा दूसरे लोगों के लिए कल्याणप्रद और हानिकर दोनों ही सावित हो सकते हैं। इस संवंध में एक पौराणिक कथा है। एक वार स्वर्ग से एक देवदूत पृथ्वी पर उतरा। उसने एक ईश्वर-भक्त व्यक्ति के घर में प्रवेश किया और पालने में सोये हुए नन्हे-से शिशु को मार

डाला। जब उससे दरियाफ्त किया गया कि उसने ऐसा क्यों किया तो उसने उत्तर दिया कि अगर इस बच्चे को जिन्दा रहने दिया जाता तो आगे चल कर यह भयंकर नर-पिशाच साबित होता और कुटुम्ब की सुख-शांति को बर्बाद कर देता। लेकिन यह बात इस प्रश्न के लिए लागू नहीं हो सकती कि किन मनुष्यों के जीवन उपयोगी हैं, किनके अनुपयोगी हैं और किनके हानिकर ? कोई भी बुद्धिमान मनुष्य जीवन-संबंधी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों का केवल उनके तात्कालिक परिणामों का विचार करके ही निपटारा नहीं कर सकता। पशु जिन भावनाओं से प्रेरित होकर काम करता है, उनसे एक विवेकवान व्यक्ति संतुष्ट नहीं हो सकता। एक मनुष्य चाहे तो अपने को पशुओं में रहने वाला पशु समझ सकता है। यह सोच सकता है कि उसका जीवन क्षणभंगुर है, अथवा वह अपने को एक परिवार का, समाज का, या राष्ट्र का सदस्य मान सकता है और अपना जीवन शताब्दियों लम्बा समझ सकता है। या वह समझ सकता है, यों कहें तो और भी अच्छा कि उसे समझना पड़ता है—क्योंकि उसका विवेक बल-पूर्वक उसे ऐसा मानने को प्रेरित करता है—कि वह अनन्त, अनादि और संपूर्ण ब्रह्माण्ड का अंग है। इसलिए अपने कार्यों पर असर डालने वाले जीवन-संबंधी छोटे-छोटे प्रश्नों के संबंध में विवेकशील पुरुषों को वही करना चाहिए, जैसा कि उन्होंने हमेशा किया है, जिसे अंकगणित में संयोजन (integrate) कहते हैं—अर्थात् उन्हें जीवन के तात्कालिक तथ्यों के साथ संबंध स्थापित करने के अलावा देश और काल से परे उस महान, अखण्ड और अनादि के साथ भी अपना नाता जोड़ना चाहिए—उस परिपूर्ण और अखंड के साथ, जिसका कि वह अपने आपको एक अंश समझता है और जिससे वह अपने आचरण के संबंध में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। इसी को धर्म कहा गया है और कहा जाता है। यही कारण है कि धर्म प्रत्येक विवेकशील पुरुष और विवेकवान मानव-समाज के जीवन का एक अनिवार्य और आवश्यक अंग रहा है और भविष्य में भी रहेगा।

: ३ :

जिन लोगों में उच्च कोटि की अर्थात् धार्मिक चेतना रही है उन्होंने धर्म को हमेशा इसी भांति समझा है। यह उच्च कोटि की चेतना ही मनुष्य को पशुओं से पृथक् करती है। स्वयं धर्म शब्द की उत्पत्ति के मूल में देवताओं की पूजा का भाव सन्निहित है, अथवा जैसाकि साधारणतः समझा जाता है, धर्म का अर्थ अदृश्य शक्तियों के प्रति अपने कर्तव्य का एक बंधन है। धर्म की अत्यंन्त प्राचीन और प्रचलित व्याख्या यह है कि 'धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच संबंध जोड़ने वाली एक कड़ी है।' वावेनार्क का कथन है—"ईश्वर के प्रति मनुष्य के कर्तव्य का नाम धर्म है।" श्लेईमाचर और फ्यूर वाक भी धर्म का यही अर्थ करते हैं। उनका कथन है कि धर्म का आधार मनुष्य की वह आत्मानुभूति है जिसके द्वारा वह अपने आपको ईश्वर पर निर्भर अनुभव करता है। वेल के कथनानुसार धर्म ईश्वर और प्रत्येक मनुष्य के बीच का मामला है। वेन्जामिन कान्स्टन्ट कहते हैं कि धर्म आत्मा की आवश्यकताओं और बुद्धि के परिणामों का नाम है। "धर्म एक विशेष प्रकार का साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अति मानुषी और रहस्यमयी शक्तियों के साथ, जिन पर कि वह अपने आपको निर्भर समझता है, अपना संबंध स्थापित करता है।"—गोवलेट डी. एल वी. एला। "मनुष्य-जीवन की उस व्याख्या का नाम धर्म है जिसका आधार मनुष्य की आत्मा और उस रहस्यमयी शक्ति के सम्बन्ध पर है जिसका आधिपत्य वह अपने तथा समस्त विश्व पर स्वीकार करता है और जिसके साथ मनुष्य अपनी एकात्मता अनुभव करता है।"—ए० रिवाहल।

मनुष्य अपने पर जिस अनन्त परमात्मा अथवा आत्माओं की सत्ता अनुभव करता है और उनके साथ जो सम्बन्ध स्थापित करता है, वही धर्म का तत्व है। हमेशा से इसी को धर्म का तत्व समझा गया है और आज भी जो लोग उच्च मानवी विशेषता से वंचित नहीं हैं, ऐसा ही मानते हैं। सम्बन्ध का स्वरूप अलग-अलग देश और अलग-अलग काल में कितना ही भिन्न

क्यों न रहा है, उसने हमेशा इस संसार में मनुष्यों के लक्ष्य को निर्धारित किया है। उसी के द्वारा स्वभावतः मनुष्यों को अपने आचरण अथवा व्यवहार के बारे में पथ-प्रदर्शन मिलता रहा है। एक यहूदी ने अपने और उस अनन्त शक्ति के बीच का सम्बन्ध इस अर्थ में समझा कि वह संसार की सब जातियों में से ईश्वर की एक विशिष्ट प्यारी जाति का सदस्य है और इसलिए ईश्वर को साक्षी समझ कर उसको उस समझौते का पालन करते रहना चाहिए जो ईश्वर ने यहूदियों के साथ किया है। एक यूनानी ने उसी सम्बन्ध को इस रूप में समझा कि चूंकि उसका जीवन शाश्वत शक्ति के प्रतिनिधियों—अर्थात् देवताओं पर निर्भर है, इसलिए उसको वे ही कर्म करने चाहिए जो इन देवताओं को प्रसन्न कर सकें। एक ब्राह्मण अपने आपको सर्वव्यापी ब्रह्म की अभिव्यक्ति समझता है और इसलिए वह इस बात को मानता है कि उसको सांसारिक सुखों का परित्याग करके उस सर्वश्रेष्ठ शक्ति का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना चाहिए। एक बौद्ध मतावलम्बी ने उस अनन्त विभूति के साथ अपना सम्बन्ध यह समझा और आज भी समझता है कि एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रवेश करते समय उसे अनिवार्य रूप से कष्ट भोगना पड़ता है और इन कष्टों का जन्म उसकी अपनी लालसाओं और वासनाओं से ही होता है, इसलिए उसका कर्तव्य सब प्रकार की लालसाओं और वासनाओं का दमन करने का प्रयत्न करना है, ताकि वह निर्वाण-पद की प्राप्ति कर सके। किसी भी धर्म पर हम दृष्टि डालें, हम को हरेक धर्म में यही सिद्धान्त छिपा हुआ नजर आता है। मनुष्य धर्म के द्वारा अपने और अनन्त आत्मा के बीच जिसके साथ कि वह अपने को सम्बन्धित अनुभव करता है, किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर उसके द्वारा वह अपने आचरण के सम्बन्ध में पथ-प्रदर्शन प्राप्त करता है। अतः जो धर्म उस परम तत्व और मनुष्य के बीच सम्बन्ध न जोड़ता हो जैसाकि पाषाण-पूजा और मंत्र-तंत्र की विधियों के सम्बन्ध में होता है, वह वास्तविक धर्म नहीं, बल्कि धर्म का अपभ्रंश होगा। यदि कोई धर्म ईश्वर और मनुष्य के बीच कुछ-न-कुछ सम्बन्ध जोड़ भी देता हो, लेकिन अगर यह सम्बन्ध ऐसे

मन्तव्यों द्वारा जोड़ा गया हो जो मनुष्य की विवेक-बुद्धि और वर्तमानकालीन ज्ञान-भण्डार के विपरीत हों और इसलिए जिन पर कोई व्यक्ति सच्चे दिल से श्रद्धा न ला सके, तो वह भी धर्म नहीं, बल्कि धर्म का धतींगा होगा। इसी प्रकार उस वस्तु को भी हम धर्म नहीं कहेंगे।" सर्वशक्तिमान जो इस अनन्त जीवन के साथ मनुष्य के जीवन की एकता स्थापित न कर सके। न हम ऐसे सिद्धान्तों में विश्वास रखने को ही धर्म कह सकते हैं जिनसे मनुष्य को अपने व्यवहार के सम्बन्ध में कोई निश्चित पथ प्रदर्शन नहीं मिलता।

हमारे चारों ओर सब जगह जो एक अनन्त शक्ति व्याप्त है उसके साथ ज्ञान और बुद्धिपूर्वक सम्बन्ध स्थापित करने का नाम है धर्म। इस प्रकार का धर्म ही मनुष्य के जीवन को उस अनन्त शक्ति के साथ बांधता है और उसका मार्ग-दर्शन करता है।

: ४ :

यद्यपि न तो कोई ऐसा युग था और न कोई ऐसा स्थान, जहां मनुष्य बिना धर्म के जीवित रहे हों, तथापि वर्तमान समय के उद्भट विद्वान, मालियर के 'अनाड़ी वैद्य' की भांति, जिसने कहा था कि कलेजा मनुष्य के बांई ओर होता है, कहते हैं कि अब तो हमने सबकुछ परिवर्तित कर दिया है। उनका खयाल है कि हम लोग धर्म के बिना अपना जीवन बिता सकते हैं और हमको बिताना चाहिए।

लेकिन धर्म का मनुष्य-समाज के लिए भूतकाल की भांति आज भी वही उपयोग है, अर्थात् वह मनुष्य-समाज की प्रधान प्रेरक शक्ति और हृदय है। उसके बिना मनुष्य-जीवन उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार हृदय के बिना शक्ति का कायम रहना। ईश्वर अथवा देवताओं के साथ मनुष्य के सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए अनेक धर्म हो चुके हैं और आज भी प्रचलित हैं। धर्मों की यह विविधता भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न देशों के लोगों के विकास-क्रम के अनुसार रही है। लेकिन जिस समय से मनुष्य

विवेकवान प्राणी बना है तब से आजतक मनुष्यों का कोई समाज ऐसा नहीं हुआ, जिसमें मनुष्य बिना धर्म के जीवित रह सके हों या जीवित रहे हों।

यह सच है कि राष्ट्रों के जीवन में ऐसे अवसर आ चुके हैं और कभी-कभी आते रहते हैं, जब प्रचलित धर्म इतना पतित, भ्रष्ट और जीवन से इतना पिछड़ जाता है कि वह मनुष्य-जीवन के लिए पथ-प्रदर्शक नहीं रहता। लेकिन मनुष्यों के जीवन पर धर्म के प्रभाव का ऐसा लोप (और भिन्न-भिन्न अवसरों पर ऐसा प्रत्येक धर्म में हुआ करता है) ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रहता। इसकी वजह यह है कि धर्म का और प्रत्येक जीवित पदार्थ का यह प्रधान लक्षण होता है कि वह पैदा होता है, बढ़ता है, बूढ़ा होता है और मर जाता है। इसके बाद वह फिर जीवन धारण करता है, और उसका स्वरूप पहले से अधिक पूर्ण होता है। जब धर्म अपने विकास के उच्च शिखर पर पहुंच जाता है तो उसके बाद हमेशा उसकी वृद्धावस्था और मृत्यु का काल शुरू होता है। इसके बाद फिर एक नवीन युग का आविर्भाव होता है। यह युग धर्म के पुनरुत्थान का युग होता है। इस युग में पहले की अपेक्षा और अधिक स्पष्ट और विवेकपूर्ण धार्मिक सिद्धान्तों की स्थापना होती है। प्रत्येक धर्म में उत्थान, पतन और पुनरुत्थान के ऐसे युग आ चुके हैं। गम्भीर ब्राह्मण धर्म जब पुराना पड़ने लगा और अपने मूल उद्देश्यों से भिन्न निश्चित और भद्दा रूप धारण करके जड़ बन गया तो जहां एक ओर ब्राह्मण धर्म में ही पुनरुत्थान की भावना जागृत हुई वहां दूसरी ओर बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षाओं का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध धर्म ने मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों के बारे में मनुष्य-जाति की धारणा को बहुत व्यापक बनाया। यूनानी और रोमन धर्मों को भी पतन के दिन देखने पड़े और जब उनका पतन चरम सीमा को पहुंच गया तो अन्त में ईसाई धर्म का उदय हुआ। वही घटना गिर्जा-प्रणाली सम्मत ईसाई-धर्म के जीवन में भी घटित हुई। बीजेण्टाइम काल में इस धर्म का इतना पतन हुआ कि सर्वत्र पाषाण तथा अनेक देवी-देवताओं की पूजा होने लगी। इस पतित और भ्रष्ट ईसाई धर्म की बाढ़

को रोकने के लिए एक तरफ पालीशियन[1] समुदाय का जन्म हुआ और दूसरी तरफ त्रिमूर्ति और मेरी की आराधना के सिद्धान्त के विरुद्ध कठोर इस्लाम धर्म अस्तित्व में आया। (इसलाम धर्म का मूलभूत सिद्धान्त एकेश्वरवाद था)। यही बात मध्यकालीन पोपशाही ईसाइयत के सम्बन्ध में हुई। उसने धार्मिक शोध के आन्दोलन को जन्म दिया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब-जब बहुसंख्यक लोगों पर धर्म का प्रभाव कम हुआ है, तब-तब अनिवार्यतः सभी धार्मिक शिक्षाओं का विकास हुआ है और उनमें नया जीवन आया है। इसका कारण यह है कि अपने वास्तविक अर्थ में—चाहे वह अर्थ कितना ही असंस्कृत (असंगत) क्यों न हो—प्रत्येक धर्म हमेशा मनुष्य और सर्वव्यापी शक्ति के बीच, जो सब मनुष्यों के लिए समान है, सम्बन्ध स्थापित करता है। प्रत्येक धर्म इस बात को मानता है कि इस सर्वव्यापी शक्ति की तुलना में छोटे-बड़े सब मनुष्य समान रूप से नगण्य हैं, समुद्र की तुलना में एक बूंद की भांति हैं। इसलिए प्रत्येक धर्म में इस कल्पना को स्थान प्राप्त है कि जिस वस्तु को वह परमात्मा कह कर स्वीकार करता है उसके सामने सब मनुष्य समान हैं। न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। फिर वह धर्म जिसको परमात्मा कह कर मानता है, वह चाहे अग्नि हो, विद्युत् हो, वायु हो, वृक्ष हो, कोई जानवर-विशेष हो, वीर पुरुष हो अथवा मृतक या जीवित राजा कोई क्यों न हो। इस प्रकार प्रत्येक धर्म का यह मूलभूत और अनिवार्य लक्षण है कि वह मनुष्यमात्र की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। लेकिन मनुष्यों के वास्तविक जीवन में समानता कहीं भी और कभी भी स्थापित नहीं हुई, न इस जमाने में

---

[1]पालीशियन ईसाइयों का वह धार्मिक समुदाय था, जिसने पूर्वीय गिर्जे के इतिहास में (सातवीं से बाईसवीं सदी तक) बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने चर्च द्वारा प्रतिपादित ईसा की शिक्षाओं को मानने से इन्कार कर दिया। परिणाम-स्वरूप ये लोग निर्दयता-पूर्वक सताये और उत्पीड़ित किये गये थे।

कहीं नजर आती है। कारण मनुष्यों की समानता[1] में विश्वास रखने वाले किसी नवीन धार्मिक सिद्धान्त ने ज्योंही किसी समाज में जन्म लिया, कुछ लोगों ने उसकी तद्विषयक शिक्षा को तोड़-मरोड़ कर उसके मौलिक पहलू पर पर्दा डालने का प्रयत्न किया, क्योंकि असमानता में ऐसे लोगों का स्वार्थ निहित था। जहां कहीं किसी नये धर्म ने जन्म लिया वहां सब जगह हमेशा ऐसा ही हुआ। यह सब अधिकार जानबूझ कर नहीं किया गया। ऐसा सिर्फ इसलिए हुआ कि जिन लोगों का स्वार्थ असमानता में ही सिद्ध होता था, उन्होंने अर्थात् सत्ताधारियों और धनवानों ने अपनी स्थिति में परिवर्तन किये बिना ही धार्मिक शिक्षा के अनुसार अपनी असमान स्थिति का औचित्य सिद्ध करना चाहा और परिणामस्वरूप धार्मिक शिक्षाओं का ऐसा अर्थ प्रचलित किया, जिससे असमानता का समर्थन होता था। इस प्रकार धर्म का पतन हो जाने पर स्वभावतः जो लोग दूसरों पर मनमानी चलाते थे, वे भी अपने आचरण को उचित समझने लगे और जब जन-साधारण में ऐसे कलुषित धर्म का प्रचार हुआ तब उनके मस्तिष्क में भी यह विचार घर कर गया कि वे जिस धर्म को मानते हैं उसके आदेशानुसार उन्हें सत्ताधारियों के अधीन रहना चाहिए और उनकी आज्ञाओं का पालन करना चाहिए।

: ५ :

मनुष्य-जाति के सब प्रकार के कार्यों के मूल में तीन प्रेरक कारण हैं : अनुभूति, विवेक और संकेत। इनमें से अन्तिम वस्तु वही है जिसको डाक्टर सम्मोहन शक्ति कहते हैं। अनेक बार मनुष्य अपनी आंतरिक प्रेरणा

---

[1]इसका मतलब यह हुआ कि परमात्मा की नजर में हम सब समान हैं और इसलिए मानवीय कानून और रिवाज ऐसे होने चाहिए जो मनुष्य-मात्र को जीवित एवं स्वतन्त्र रहने और सुख की खोज करने का समान अधिकार देते हों। इसके अलावा यह भी कि मनुष्य आपस में एक-दूसरे के साथ भाई-भाई का-सा बर्ताव करे।

से प्रभावित होकर कार्य करता है, सिर्फ अपनी अभिलषित वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। अनेक बार वह केवल बुद्धि के वशवर्ती होकर कार्य करता है। उसका कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भेद बताता है। लेकिन अनेक बार, बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बहुधा मनुष्य इसलिए कार्य करता है कि उसने स्वयं अथवा दूसरे किन्हीं लोगों ने उसको उस कार्य के करने का संकेत किया होता है और वह बिना किसी तर्क-वितर्क के उस संकेत का अनुसरण करता है। जीवन की साधारण परिस्थितियों में ये तीनों बातें मनुष्य को समान रूप से प्रेरित करती हैं। अन्तःस्फूर्ति मनुष्य को किसी कार्य विशेष की ओर आकर्षित करती है। बुद्धि वर्तमान परिस्थितियों, भूतकाल के अनुभवों और भविष्य की आशाओं को दृष्टि में रखकर उस कार्य के भले-बुरे का निर्णय करती है। इस प्रकार अन्तःस्फूर्ति द्वारा उत्पन्न और बुद्धि द्वारा अनुमोदित कार्यों के करने के लिए अन्तःस्फूर्ति और बुद्धि के अलावा संकेत (Suggestion) मनुष्य को प्रेरित करता है। अगर मनुष्य में अन्तःस्फूर्ति न हो तो वह किसी कार्य को हाथ में नहीं ले सकता। अगर उसमें बुद्धि न हो तो वह अपने और दूसरे लोगों को नुकसान पहुंचाने वाली अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को अपना लेगा। यदि उसमें अपने निज के तथा अन्य व्यक्तियों के संकेतों पर चलने की योग्यता न हो तो उसको हमेशा अन्तःस्फूर्ति का आश्रय लेना पड़ेगा और अपनी बुद्धि को अन्तःस्फूर्ति के औचित्यानौचित्य का पता लगाने के लिए व्यस्त रखना पड़ेगा। इस प्रकार मनुष्य के छोटे-से-छोटे कामों के लिए भी इन तीनों प्रभावों का होना आवश्यक है। अगर कोई मनुष्य एक स्थान से उठ कर दूसरे स्थान को जाता है तो उसकी वजह यह है कि अन्तःस्फूर्ति ने उसको एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए प्रेरित किया है, बुद्धि ने उसके इस अभिप्राय का समर्थन किया है तथा उस कार्य को पूरा करने के साधन मनुष्यों को सुझा दिये हैं (इस उदाहरण में जैसे एक विशेष रास्ते पर कदम उठा कर चलना)। शरीर के अवयव आज्ञा का पालन करते हैं और मनुष्य उस निर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगता है। जिस समय

वह चलता रहता है उसकी अन्तःस्फूर्ति और बुद्धि अन्य कार्य करने को स्वतंत्र होते हैं। अगर उसमें अपन तथा दूसरों के संकेतों पर चलने की योग्यता न होती तो ऐसा होना संभव नहीं था। मनुष्य-समाज के सम्पूर्ण कार्यों में और उनमें भी सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक कार्य में हमको यही बात दिखाई देती है। अन्तःस्फूर्ति मनुष्य और परमात्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता जागृत करती है, बुद्धि उस सम्बन्ध की सीमाएं निश्चित करती है और संकेत मनुष्य को उस सम्बन्ध के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रेरित करता है। लेकिन ऐसा तभीतक होता है जबतक धर्म शुद्ध और निर्विकार रहता है। जब धर्म विकृत होने लगता है तो संकेत का प्रभाव मनुष्य पर अधिकाधिक मजबूत होता जाता है और अन्तःस्फूर्ति तथा बुद्धि के कार्यों की गति मन्द पड़ जाती है। संकेत के तरीके हमेशा और हर जगह एक ही प्रकार के होते हैं। उनका समावेश इस बात में होता है कि वे मनुष्य का ऐसे अवसर पर उपयोग करते हैं जब उसमें संकेत ग्रहण करने की शक्ति बहुत अधिक मात्रा में होती है। उदाहरणार्थ बाल्यकाल और जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं—जैसे मृत्यु, जन्म, विवाहोत्सव आदि के समय। मनुष्य पर कला—स्थापत्य, मूर्ति-निर्माण, चित्रकला, संगीत और अभिनयों—द्वारा प्रभाव डाला जाता है और जब वह ग्रहण करने की स्थिति—जिसकी तुलना हम उस स्थिति के साथ कर सकते हैं जो कि व्यक्तियों पर सम्मोहन करने से पैदा होती है—में होता है तो संकेत करनेवाला जो कुछ चाहता है उसके दिमाग में बिठा देता है।

तमाम पुराने धर्मों के अन्दर हम इस प्रकार के घटना-क्रम का अवलोकन कर सकते हैं। उच्च ब्राह्मण धर्म को हम भद्दी पाषाण-पूजा के रूप में पतित हुआ पाते हैं। लोग गायन-वादन द्वारा और सुगन्धित धूप-दीप जलाकर अलग-अलग मन्दिरों में असंख्य मूर्तियों की पूजा करने लगते हैं। पैगम्बरों द्वारा प्रचारित प्राचीन यहूदी धर्म को हम एक विशालकाय मंदिर में देवता की पूजा के रूप में परिवर्तित होता देखते हैं, जहां थोथे गानों और जुलूसों के अलावा कुछ नहीं होता। महान् बौद्ध धर्म भी इसी

प्रकार परिवर्तित हो जाता है। मठ स्थापित होते हैं, बुद्ध की मूर्तियां प्रतिष्ठित होती हैं और नाना प्रकार की दिखावटी विधियां अपना ली जाती हैं। अन्त में बौद्ध धर्म को हम रहस्यमय लामावाद के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार चीन का ताओ धर्म भी आगे चलकर सिर्फ जादू-टोने और मन्त्र-तन्त्र में बदल जाता है।

सब धर्मों में हमेशा यही होता आया है कि जब-जब धर्मों ने विकृत रूप धारण करना आरम्भ किया तो धर्माचार्यों ने पहले तो मनुष्यों को ऐसी स्थिति में ले जाकर डाला कि उनकी बुद्धि मन्द हो गई और बाद में मनचाही बातों पर मनुष्यों की श्रद्धा जमाने का भरसक प्रयत्न किया और सब धर्मों में उन्हीं तीन बातों की ओर लोगों को प्रेरित करना आवश्यक समझा गया जिनका जिक्र ऊपर किया गया है। ऐसा करने की वजह यह थी कि एक पतनशील धर्म जिन विकारों का शिकार हो सकता है उनके लिए वे बातें आधार-शिला का कार्य करती हैं। सबसे पहले लोगों को यह सुझाया गया कि समाज में एक विशेष प्रकार के व्यक्ति होते हैं और केवल वे ही परमात्मा अथवा देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकते हैं। दूसरी बात यह कि चमत्कार हुए हैं और होते हैं, जो इन मध्यस्थ लोगों के कथन की सत्यता को पुष्ट और प्रमाणित करते हैं। अन्तिम और तीसरी बात लोगों को यह बताई गई कि कुछ शब्द ऐसे हैं जो या तो मौखिक दुहराये जाते हैं या किताबों में लिखे हुए हैं। ये शब्द परमात्मा के अटल संकल्प को व्यक्त करते हैं और इसलिए परम पवित्र और अचूक हैं। ज्यों ही सम्मोहन के प्रभाव में आकर जनता इन कथनों को मानने लगती है, वे सब बातें भी पवित्र और सच्ची मानी जाने लगती हैं जो ईश्वर और मनुष्यों के ये मध्यस्थ अपने मुंह से कहते हैं। इस प्रकार धर्म को विकृत करने का प्रधान उद्देश्य सफल हो जाता है, अर्थात् मनुष्य-मात्र की समानता के सिद्धान्त पर पर्दा पड़ जाता है, समाज में घोर असमानता की स्थापना हो जाती है और उसका समर्थन होने लगता है। समाज जातियों और उपजातियों में विभक्त हो जाता है।

कुछ लोग ईश्वर के प्यारे कहलाने लगते हैं तो कुछ धर्मद्रोही। कुछ लोग पुरातनतावादी और कुछ नास्तिक तथा कुछ साधु-महात्मा और कुछ पापी समझ लिये जाते हैं। हमारे ईसाई धर्म में भी यही बात हुई है और हो रही है। मनुष्य मनुष्य के बीच भयंकर असमानता को हमने स्वीकार कर लिया है। हमनें मनुष्यों को उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार पादरियों और गृहस्थों में ही नहीं बांटा है; बल्कि सामाजिक स्थिति के अनुसार हमने उनको शासकों और शासितों में भी बांट दिया है, और सन्त पाल की शिक्षाओं के अनुसार इस बंटवारे को हम ईश्वर-सम्मत मानते हैं।

: ६ :

दूसरे तमाम धर्मों की भांति ईसाई गिर्जा-धर्म ने भी बिलकुल निश्चित और उग्र रूप में मनुष्य मनुष्य के बीच असमानता को स्थापित कर डाला है। वह न केवल धर्माचार्यों और गृहस्थों का अन्तर ही स्वीकार करता है, बल्कि समाज में अमीर और गरीब, मालिक और गुलाम का भेद भी उसको मान्य है। लेकिन अगर हम धर्म-ग्रन्थों में लिखी हुई ईसाई धर्म की प्राचीन शिक्षाओं पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि अन्य धर्मों को विकृत करने के लिए जो प्रमुख साधन काम में लाये गये उनको पहले से महसूस कर लिया गया था और उनके खिलाफ स्पष्ट रूप से चेतावनी दे दी गई थी। पादरी-समाज के खिलाफ इन धर्म-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप में लिखा हुआ है कि कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का गुरु नहीं बन सकता।—"न किसी व्यक्ति को अपना गुरु कहो—न खुद मालिक कहाओ"। धर्म ग्रन्थों को पवित्र समझ लेने के खिलाफ यह कहा गया कि शब्दों में कुछ नहीं रक्खा है, उनके भाव को ही महत्वपूर्ण समझो। यह भी कहा गया कि मनुष्य को सामाजिक रूढ़ियों को नहीं मानना चाहिए और समस्त धार्मिक सिद्धान्तों और पैगम्बरों के उपदेशों का, अर्थात् पवित्र और सत्य माने जानेवाले सम्पूर्ण ग्रन्थों का, निचोड़ यह है कि मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कि वह चाहता है कि

दूसरे उसके साथ करें। इतना तो धर्म को विकृत करने के दो साधनों के बारे में हुआ। रहा तीसरा प्रकार सो यदि उन ग्रन्थों में चमत्कारों के खिलाफ कुछ नहीं कहा गया और यदि बाइबल में कुछ ऐसे चमत्कारों का वर्णन है जिनके लिए खयाल किया जाता है कि ईसामसीह ने उनको किया था, तो भी उस धर्म-शिक्षा की सारी भावना से इतनी बात बिलकुल स्पष्ट है कि ईसामसीह ने अपनी शिक्षाओं के औचित्यानौचित्य को प्रमाणित करने के लिए अलौकिक कृत्यों का सहारा नहीं लिया, बल्कि उनके गुणा-वगुणों पर ही जोर दिया था। "अगर कोई आदमी ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करना चाहता है तो धर्मशिक्षा से उसे इस बात का पता लग जायगा—फिर वह धर्मशिक्षा चाहे ईश्वर-प्रदत्त हो या उसको मैंने अपने मुंह से कहा हो।" इस सबके अलावा ईसाई धर्म ने मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की घोषणा की है। केवल इसीलिए नहीं कि ईश्वर और मनुष्य के बीच एक खास रिश्ता है, बल्कि इसलिए भी कि समस्त मनुष्यों का भाईचारा एक मूल सिद्धान्त है, जो इस खयाल से पैदा होता है कि सब मनुष्य उस परम पिता की सन्तान हैं। इस प्रकार जब हम एक ही पिता की सन्तान हैं तो फिर हममें छोटे-बड़े के भेद को स्थान कैसे मिल सकता है ?

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त धार्मिक शिक्षाओं के मौजूद रहते हुए ईसाई धर्म इस प्रकार विकृत नहीं होना चाहिए था कि मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की भावना ही नष्ट हो जाती। लेकिन मनुष्य का मस्तिष्क भी कुछ कम सूक्ष्मदर्शी नहीं है। धर्म-ग्रन्थों में लिखी हुई चेतावनियों तथा मनुष्य मनुष्य के बीच समानता की स्पष्ट घोषणा को बेकार बनाने के लिए सम्भवतः जाने या अनजाने एक बिल्कुल नया जाल रचा गया। तदनुसार न सिर्फ कुछ धर्म-लेखों को ही अचूक बताया गया, बल्कि पादरी नामधारी व्यक्तियों के एक विशेष समुदाय को भी निर्विकार घोषित किया गया। यह भी कहा गया कि ये पादरी जिसको चाहें उसको निर्विकार बना सकते हैं।

धर्मग्रन्थों में थोड़ी-सी सामग्री ऊपर से जोड़ दी गई। लोगों को कहा गया कि जब ईसामसीह स्वर्ग को प्रयाण करने लगे तो उन्होंने खास-खास व्यक्तियों को कुछ विशेष अधिकार प्रदान किये थे । उन्होंने उनको न सिर्फ यही अधिकार दिया कि वे जनसाधारण को ईश्वरीय सत्य (धर्मग्रन्थ में लिखित शब्दों के अनुसार तो उस समय ईसामसीह ने इन लोगों को यह अधिकार भी दे दिया था कि सांप के काटने तथा विषपान से भी इन लोगों के शरीर को कोई हानि नहीं पहुंचेगी।)[1] की शिक्षा दें, बल्कि यह निर्णय करने का अधिकार भी दिया कि कौनसे व्यक्ति उद्धार पाने योग्य हैं और कौनसे नहीं। यह भी वे जिसको चाहें अपना यह अधिकार सौंप सकते हैं। धर्मग्रन्थ की इस छीछालेदर का परिणाम यह हुआ कि ज्योंही गिर्जे की इस कल्पना ने जनता के मन में गहरी जड़ जमाई, त्योंही ईसामसीह की शिक्षा को दूषित होने से बचानेवाली धर्मग्रन्थों में लिखी हुई तमाम चेतावनियां निरर्थक और बेकार हो गईं? क्योंकि अब गिर्जा बुद्धि से और पवित्र माने जाने वाली धार्मिक शिक्षाओं से श्रेष्ठ बन गया था। अब तो लोग बुद्धि को गलतियों का उद्गम-स्थान मानने लगे और धर्म-ग्रन्थों का बुद्धि-गम्य तथा जन-साधारण की समझ में आने योग्य अर्थ करने के बजाय ऐसा अर्थ किया जाने लगा जो गिर्जे के सर्वेसर्वाओं की रुचि के अनुकूल था।

इस प्रकार ईसाई धर्म में धर्म को विकृत करने के तीनों पुराने साधनों—अर्थात् महंती, चमत्कारों, और धर्मवाक्यों की अचूकता को पूर्णतः स्वीकार कर लिया गया। मनुष्य और ईश्वर के बीच मध्यस्थ बननेवालों के महत्व को माना जाने लगा, क्योंकि गिर्जावाद ने ऐसे मध्यस्थों की

---

[1] "सम्पूर्ण संसार में फैल जाओ और जनता में धर्मशिक्षा का प्रचार करो। इन धर्मशिक्षाओं में श्रद्धा रखनेवालों के ये लक्षण होंगे—मेरा नाम लेकर वे सांपों को अपने हाथों में उठा लेंगे और अगर वे किसी विषैले पदार्थ का पान करेंगे तो भी उनको किसी तरह की क्षति नहीं पहुंचेगी ।"—बाइबिल

आवश्यकता और औचित्य को स्वीकार कर लिया था। चमत्कारों का औचित्य और प्रामाणिकता भी स्वीकार की जाने लगी; क्योंकि सत्य की ठेकेदार गिर्जा-प्रणाली ने उनपर अपनी मुहर लगा दी थी। इसी भांति बाइबिल की पवित्रता और अचूकता भी स्वीकार की जाने लगी, क्योंकि गिर्जे ने उसे स्वीकार कर लिया था।

इस प्रकार दुनिया के तमाम दूसरे धर्मों की भांति ईसाई धर्म भी विकृत कर दिया गया। लेकिन पहले के और इस उदाहरण में यह अन्तर था कि चूंकि ईसाई धर्म में अपने मूलभूत सिद्धान्त—अर्थात् ईश्वर के पुत्रों की हैसियत से मनुष्य मनुष्य सब समान हैं—की घोषणा अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में की थी, इसलिए उसके इस मूलभूत सिद्धान्त पर पर्दा डालने के लिए उसकी सम्पूर्ण शिक्षा को अत्यन्त उग्रता के साथ विकृत करना पड़ा। गिर्जा-प्रणाली की इस कल्पना की सहायता से ईसाई धर्म को जितना विकृत किया गया, उतना और कोई-धर्म विकृत नहीं किया गया। फलतः संसार में किसी भी धर्म ने वस्तुतः कभी भी विवेक और आधुनिक ज्ञान के इस कदर विरुद्ध बातों की तथा इतने अनैतिक उपदेशों की शिक्षा नहीं दी, जितनी कि ईसाई गिर्जे ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा जनता को दी। यहां हम पुरानी बाइबिल की उन तमाम वाहियात बातों का तो जिक्र ही नहीं करना चाहते, जिनमें सूर्य से पहले प्रकाश के पैदा होने, ६००० वर्ष पूर्व सृष्टि का निर्माण होने, आर्क नामक स्थान में सम्पूर्ण प्राणियों के लिए घरों के बनाये जाने तथा अन्य तरह-तरह के अनैतिक जघन्य कर्मों का, जिनमें ईश्वर के आदेशानुसार सारे मनुष्य-समाज और बालकों तक को कत्ल करने तक का विधान शामिल है, वर्णन किया गया है। न हम यहां पर उस प्रसाद वितरण की विधि का उल्लेख करना चाहते हैं जिसके बारे में प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक वाल्टेयर यह कहा करता था कि हालांकि संसार में नाना प्रकार के वाहियात धार्मिक सिद्धान्त प्रचलित हैं, तथापि इस प्रकार का धार्मिक सिद्धान्त त्रिकाल में प्रचलित नहीं हुआ, जिसके अनुसार अपने परमात्मा को खा जाना धर्म का मुख्य कार्य समझा जाता है। भला इनसे

अधिक वाहियात और कौनसी वातें हो सकती हैं कि ईश्वर की माता माता भी थी और कुमारी भी; आकाश फटा और वहां से एक आवाज सुनाई दी; ईसामसीह उड़कर आकाश में चले गये और वहां कहीं एक जगह परम पिता के दाहिनी तरफ वैठा करते हैं, अथवा यह कि ईश्वर एक है और तीन भी। यह नहीं कहा जाता कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन देवता हैं; लेकिन यह कहा जाता है कि ईश्वर एक भी है और तीन भी। इसके अतिरिक्त इस भयंकर सिद्धान्त से वढ़कर अनैतिक और क्या हो सकता है कि एक क्रोधी और वदला लेने वाला परमात्मा आदम के पाप के लिए तमाम आदमियों को सजा दिया करता है और उसने संसार के लोगों के उद्धार के लिए अपने पुत्र को पृथ्वी पर भेजा, पहले से यह जानते हुए कि मनुष्य उसको मार डालेंगे और इस प्रकार निन्दा के पात्र वन जावेंगे। साथ ही इससे वढ़कर भयंकर वात और कोई नहीं हो सकती कि वपतिस्मा कराने से ही पापों से मुक्ति मिल जाती है अथवा इस वात में श्रद्धा रखने से कि ये सव अलौकिक कृत्य वास्तव में हो चुके हैं, ईश्वर के पुत्र अर्थात् ईसामसीह मनुष्यों द्वारा इसलिए मार डाले गये कि मनुष्यों का उद्धार हो सके और यह भी कि जो लोग इन वातों में श्रद्धा नहीं लावेंगे उन्हें ईश्वर कल्प-कल्पान्तर तक नर्क में सड़ावेगा ?

इस प्रकार यदि हम उन वातों को छोड़ भी दें, जिनके लिए यह खयाल किया जाता है कि धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में वाद में जोड़ दी गई हैं, प्राचीन अवशेषों और ईश्वर की माताओं की अनेक प्रतिमाओं[1] पर भी विचार न करें, अलग-अलग विशेषताएं रखने वाले सन्तों और महात्माओं से की गई सुख-याचना-सूचक

---

[1] कजान, आईवेरियन एवं दूसरी अनक 'ईश्वर की मातायें' और कुछ नहीं, केवल ईसामसीह की माता मेरी की तसवीरें हैं। रूस में यह विश्वास प्रचलित है कि इन प्रतिमाओं के अन्दर अद्भुत और अलौकिक कार्य करने की शक्तियां हैं।

प्रार्थनाओं और प्रोटेस्टेन्ट धर्मावलम्बियों के देववाद को भी एक ओर रख दें तो भी नयसीन की प्रशस्ति में सन्निहित और सब लोगों द्वारा स्वीकृत इस धर्म के खास आधार ही इतने वाहियात और अनैतिक तथा सद्भावनाओं और साधारण समझ के इतने विपरीत हैं कि मनुष्य उनको मान ही नहीं सकता। लोग अपने ओठों से तोतों की भांति चाहें जिस प्रकार के शब्दों को दुहरा सकते हैं; लेकिन वे उन बातों में कभी विश्वास नहीं ला सकते, जिनका कोई मतलब ही नहीं निकलता। यह सम्भव है कि एक आदमी अपने ओठों के द्वारा यह बात कहे—"मेरा विश्वास है कि छः हजार वर्ष पूर्व सृष्टि की उत्पत्ति हुई" या "मेरा विश्वास है कि ईसामसीह आकाश में उड़ गये और अपने पिता के पास जाकर बैठ गये" या "ईश्वर एक है और तीन भी" लेकिन कोई व्यक्ति इन बातों में वस्तुतः विश्वास नहीं ला सकता, क्योंकि इन शब्दों का दरअसल कोई मतलब नहीं! इस प्रकार आधुनिक काल के जो लोग ईसाई धर्म के इस विकृत स्वरूप को मानते हैं वे वास्तव में किसी चीज में विश्वास नहीं करते। और यही हमारे जमाने की एक खास खूबी है।

: ७ :

वस्तुतः इस जमाने के लोग किसी भी बात में विश्वास नहीं रखते। लेकिन फिर भी 'यहूदियों के नाम धर्म-पत्रिका', जिसका लेखक गलती से लोग संत पाल को मानते ह, नामक पुस्तक के आधार पर श्रद्धा की गलत व्याख्या करके वे मान बैठते हैं कि वे श्रद्धा रखते हैं। इस व्याख्या के अनुसार अभिलषित पदार्थों के सार या अदृश्य पदार्थों के अस्तित्व के प्रमाण को श्रद्धा कहा गया है। लेकिन ये दोनों बातें बिलकुल गलत हैं। यहां पर हम थोड़ी देर के लिए अगर इस बात का उल्लेख न भी करें कि श्रद्धा कोई ठोस पदार्थ नहीं; क्योंकि श्रद्धा तो मनुष्य की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति का नाम है और इसलिए वह कोई दृश्य वस्तु नहीं हो सकती तो भी हम 'अदृश्य चीजों के प्रमाण' को श्रद्धा नहीं कह

सकते। दूसरी वजह यह है कि 'धर्म पत्रिका' में जिस 'प्रमाण' का जिक्र है उसके आगे और पीछे के मजमून को देखते हुए उसका अर्थ केवल अन्ध-श्रद्धा ही होता है और अन्ध-श्रद्धा एवं श्रद्धा, ये दोनों बिलकुल दो जुदी-जुदी चीजें हैं।

न तो आशा और न अन्ध-विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा तो इन दोनों से भिन्न एक तीसरी ही चीज है। वह आत्मा की एक खास स्थिति का नाम है। श्रद्धा मनुष्य के उस आत्म-ज्ञान का नाम है, जिसके अनुसार उसको इस बात का ज्ञान होता है कि संसार में उसको अपनी स्थिति के अनुसार कुछ खास कर्तव्य करना चाहिए। मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुरूप संसार में कार्य करता है। परन्तु उसके ऐसा करने की वजह यह नहीं है—जैसाकि हमारे रूसी भाषा में लिखित धार्मिक वार्तालाप में कहा गया है–कि वह दृश्य पदार्थों की भांति अदृश्य पदार्थों में विश्वास रखता है और मनोवांछित वस्तुओं को पाने की आशा रखता है। इसकी वजह तो यह है कि दुनिया में अपनी स्थिति को समझ लेने के बाद स्वभावतः वह उसके अनुसार कार्य करता है। एक किसान जमीन को जोतता है और एक मल्लाह समुद्र में नाव खेने का कार्य करता है। इन दोनों के ऐसा करने की वजह यह नहीं है, जैसा कि हमारे धर्मध्वजी अक्सर कहा करते हैं, कि ये लोग अदृश्य में विश्वास रखते हैं अथवा अपने कामों के बदले कुछ प्रतिफल पाने की आशा रखते हैं। यह ठीक है कि उनके मन में प्रतिफल की आशा होती है, लेकिन वे उसीसे प्रेरित होकर कार्य नहीं करते; बल्कि उसकी वजह यह है कि वे उन कामों को अपना धन्धा समझते हैं। इसी भांति एक धार्मिक श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति एक विशेष प्रकार से व्यवहार करता है; लेकिन वह ऐसा इसलिए नहीं करता कि वह अदृश्य में विश्वास रखता है अथवा अपने कार्य का प्रतिफल चाहता है, बल्कि उसका कारण यह है कि संसार में अपनी स्थिति को भली भांति हृदयंगम कर लेने के बाद वह स्वभावतः उस स्थिति के अनुरूप आचरण करता है। यदि कोई व्यक्ति इस बात का निश्चय कर लेता है कि समाज में उसकी स्थिति

एक मजदूर की, एक कारीगर की, एक राज्य कर्मचारी की अथवा एक व्यापारी की है तो वह अपनी इस स्थिति के अनुरूप काम करना आवश्यक समझता है और मजदूर, कारीगर, राज्य कर्मचारी अथवा व्यापारी का काम करता है। ठीक यही स्थिति उन आम लोगों की है जो संसार में इस प्रकार अपनी स्थिति को निश्चित कर लेते हैं और फिर अनिवार्यत: और स्वभावत: उसके अनुसार कार्य करते हैं। उनका यह निश्चय अनेक बार स्थूल निश्चय नहीं होता। उसको हम अस्पष्ट आत्म-चेतना कह सकते हैं। इस प्रकार उदाहरण के लिए मान लो कि एक मनुष्य ने संसार में अपनी स्थिति के बारे में यह समझा है कि वह ईश्वर के प्रिय राष्ट्र का सदस्य है, जिसे ईश्वर का संरक्षण प्राप्त करने के लिए उस परम पिता के आदेशों का पालन करना चाहिए, तो वह अपना जीवन इस प्रकार वितावेगा कि जिससे परमेश्वर के आदेशों का पालन हो सके। इसी भांति, मान लो कि एक दूसरा व्यक्ति है, जिसने संसार में अपनी स्थिति इस बात को सामने रखकर निर्दिष्ट की है कि वह भिन्न-भिन्न प्रकार की असंख्य जीव-योनियों में होकर गुजर चुका है तथा गुजर रहा है एवं उसके व्यक्तिगत आचरण और कार्यों पर ही उसका अच्छा या बुरा भविष्य बहुत कुछ निर्भर है तो वह अपने इस विचार के द्वारा प्रेरित होकर कार्य करेगा और एक तीसरा आदमी है जो परमाणुओं के आकस्मिक संयोग को ही अपने जन्म का कारण मानता है और यह मानता है कि उसकी चेतन शक्ति क्षणिक है, जो अन्त में सदा के लिए बुझ जावेगी; तो जीवन में उसका व्यवहार उपरोक्त दोनों प्रकार के व्यक्तियों से भिन्न होगा।

इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों का आचरण बिलकुल भिन्न होगा। कारण उन्होंने अपनी स्थिति को भिन्न रूप में निर्दिष्ट किया है अथवा यों कह लीजिये कि वे विभिन्न विश्वास रखते हैं। श्रद्धा और धर्म दो अलग अलग चीजें नहीं हैं; बल्कि एक ही वस्तु के दो नाम हैं। उनमें अंतर है तो सिर्फ यही कि धर्म शब्द से हमारा तात्पर्य किसी ऐसी वस्तु से होता है जिस-का अवलोकन हम अपने बाहर करते हैं; और श्रद्धा भी वही वस्तु है, पर

उसका अनुभव मनुष्य अपने भीतर करता है। मनुष्य और इस अनन्त विश्व के बीच उस सम्बन्ध का नाम श्रद्धा है जिससे मनुष्य परिचित होता है और उसके इस सम्बन्ध में से ही उसको पथ-प्रदर्शन प्राप्त होता है। और इसलिए सच्ची श्रद्धा न तो कभी अविवेकपूर्ण हो सकती है और न आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विपरीत। न वह अलौकिक या वेहूदा हो सकती है, जैसा कि लोग खयाल करते हैं और जैसा कि गिर्जाघर के एक पादरी ने कहा था कि—"मैं श्रद्धा में इसलिए विश्वास रखता हूं कि वह एक वाहियात चीज है।" इसके विपरीत हमारा तो यह स्पष्ट मत है कि सच्ची श्रद्धा के मन्तव्यों के चाहे सावित भले ही न किया जा सके, लेकिन उनमें विवेक और मानव-ज्ञान के विपरीत कुछ नहीं होता। प्रत्युत वे हमेशा जीवन के उन तत्वों का स्पष्टीकरण करते हैं जो श्रद्धा द्वारा अनुमोदित कल्पना के अभाव में अविवेकपूर्ण और असंगत प्रतीत होंगे।

मिसाल के तौर पर यहां प्राचीन काल के एक यहूदी का उदाहरण लीजिए। उसका यह विश्वास था कि इस विश्व में एक परब्रह्म, सर्व शक्तिमान तथा अनादि पुरुष है, जिसने इस ब्रह्माण्ड, पृथ्वी, जीव-जन्तुओं, मनुष्यों इत्यादि को उत्पन्न किया है और इस वात का वचन दिया है कि अगर उसकी सृष्टि के लोग उसके आदेशों पर चलेंगे तो वह उनकी रक्षा करेगा। उसका यह विश्वास अविवेक-पूर्ण अथवा ज्ञान-विरूद्ध विश्वास न था। इसकें विपरीत वह श्रद्धा उसको जीवन की ऐसी अनेक वातों का ज्ञान प्रदान करती थी—जिनपर उसके अभाव में पर्दा ही पड़ा रहता।

इसी प्रकार एक हिन्दू यह मानता है कि मनुष्यों की आत्माएं नाना प्रकार की जीव-योनियों में रह चुकी हैं और उन्होंने भला या वुरा जैसा जीवन विताया होता है, उसके अनुसार उनको उच्च अथवा निम्न श्रेणी की जीव-योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। अपनी इस श्रद्धा की सहायता से वह अनेक ऐसी वातों को अपने लिए वुद्धिगम्य वना लेता है जो इस श्रद्धा के अभाव में उसकी समझ में विलकुल आ ही नहीं सकती थीं।

ठीक यही स्थिति उस मनुष्य की है जो यह समझता है कि जीवन धारण करना एक प्रकार की बुराई (पाप) है और मनुष्य-जीवन का उद्देश्य अपनी वासनाओं का दमन करके शांति प्राप्त करना है। ऐसा व्यक्ति किसी अविवेक-पूर्ण बात में विश्वास नहीं रखता। इसके विपरीत, वह ऐसी बात में विश्वास करता है जो मनुष्य-जीवन-सम्बन्धी उसके दृष्टिकोण को पहले से अधिक बुद्धि-संगत बनाता है।

एक सच्चे ईसाई के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। वह इस बात में विश्वास करता है कि ईश्वर संसार के समस्त मनुष्यों का आध्यात्मिक पिता है और मनुष्य सर्वोच्च मानव-कल्याण तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह इन दो बातों को स्वीकार करे कि (१) सब मनुष्य ईश्वर की सन्तान हैं और (२) मनुष्य-मनुष्य सब भाई-भाई हैं।

ये सब विश्वास चाहे प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त भले ही न किये जा सकें; किन्तु बजातेखुद वे अविवेक-पूर्ण कदापि नहीं हैं। इसके विपरीत वे हमारे जीवन की विभिन्न घटनाओं का विवेकपूर्ण अर्थ हमारे सामने रखते हैं। अगर मनुष्यों के अंदर उनका अभाव हो तो उन्हें अपने जीवन की घटनाएं अविवेकपूर्ण एवं असंगत प्रतीत होंगी। इसके अलावा ये सब विश्वास इस विश्व में मनुष्य की स्थिति को निश्चित कर देते हैं और उस स्थिति के अनुसार आचरण करने को अनिवार्यतः प्रेरित करते हैं। इसलिए यदि किसी धर्म में ऐसे अविवेकपूर्ण सिद्धान्तों का निर्देश है जो हमें किसी बात को समझा नहीं सकते, बल्कि जो मनुष्य को अपने जीवन के तात्पर्य को समझने में मदद पहुंचाने के बजाय उसको अधिक भ्रम तथा गड़बड़ में डाल देते हैं तो उसको हम धर्म का, श्रद्धा का नाम नहीं दे सकते। वह तो वास्तविक धर्म के मुख्य लक्षण से शून्य धर्म का विकृत रूप मात्र होगा। वह मनुष्यों का आचरण तथा चरित्र-सम्बन्धी किसी प्रकार का पथ-प्रदर्शन नहीं करेगा। वह तो मनुष्य के हाथ की कठपुतली बन जावेगा। सच्चे धर्म और उसके विकृत स्वरूप में एक खास भेद होता है। विकृत धर्म का अनुयायी अपनी प्रार्थनाओं और तपस्या के बदले में ईश्वर से इस बात की याचना करता

है कि वह उसकी मनोकामनाओं को पूर्ण करे तथा अन्य प्रकार से उसके काम आवे। लेकिन जो मनुष्य सच्चे धर्म का अनुयायी होगा, वह ऐसा कभी नहीं सोचेगा। वह सिर्फ एक ही बात का अनुभव करेगा कि ईश्वर उससे अपने संकल्प पूर्ण करना चाहता है—अर्थात् वह चाहता है कि मनुष्य ईश्वर का काम करे।

और चूंकि हमारे जमाने के मनुष्यों में इस धर्म का, इस श्रद्धा का अभाव है, वे इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकते कि वह धर्म कैसा होता है। श्रद्धा से उनका तात्पर्य सिर्फ यही होता है कि या तो जिस वस्तु को उन्हें श्रद्धा का सार बताया गया है उसको अपने ओठों से दुहरा दें या ऐसी पूजापाठ की विधियों का अनुष्ठान करें जिनको गिरजा उनकी मनोकामनाओं को पूरी होने में सहायक बताता है।

: ८ :

हमारी दुनिया के लोग आजकल बिना श्रद्धा के अथवा धर्म के अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। मनुष्य-समाज के उस भाग ने, जो अल्पसंख्यक होते हुए भी शिक्षित और शक्तिशाली है, अपने को गिरजा-प्रणाली के माया-जाल से मुक्त कर लिया है। यह अल्पसंख्यक समुदाय वस्तुतः किसी बात में विश्वास नहीं करता। यह हर प्रकार की श्रद्धा और धर्म को या तो एक प्रकार की वाहियात चीज समझता है या फिर उसे जनता को पराधीन बनाये रखने का केवल एक उपयोगी साधन मानता है। दूसरी ओर समाज का वह बहुसंख्यक भाग है, जो दरिद्रता से पीड़ित और अशिक्षित है। इस जन-समुदाय में कुछ थोड़े से लोगों को छोड़ कर करीब-करीब सब नेक नीयत और सरल स्वभाव के लोग हैं। लेकिन ये लोग अभी तक गिरजे के मायाजाल में फंसे हुए हैं। ये ऐसा मानते हैं कि श्रद्धा के नाम से जो-कुछ इन्हें बताया गया है उसमें उनका विश्वास है। लेकिन वस्तुतः वह श्रद्धा सच्ची श्रद्धा नहीं है, क्योंकि यह मनुष्य को संसार में अपनी स्थिति का ज्ञान कराने के बजाय उसको अंधकारपूर्ण बनाती है।

इस प्रकार की विषम स्थितियां हमारे ईसाई नामधारी संसार का

जीवनक्रम निर्धारित करती हैं। मायाजाल में फंसे हुए वहुसंख्यकों और समाज के अश्रद्धालु तथा कपटाचारी अल्पसंख्यकों के पारस्परिक सम्वन्ध भी हमारे जीवन पर असर डालते हैं और इन दोनों समुदायों-अर्थात्-जिसके अधिकार में जनता पर मायाजाल फैलाने के साधन मौजूद हैं वह अल्पसंख्यक समुदाय और वहुसंख्यक समाज जो इस मायाजाल में फंसा हुआ है—का जीवन भयंकर वन गया है। इसके दो कारण हैं—एक तो सत्ताधारियों की भ्रष्टता और निर्दयता, और दूसरे मेहनत-मजदूरी करनेवाले वहुसंख्यक समाज की पददलित और मूक अवस्था। धार्मिक पतन के किसी भी काल में हमने तमाम धर्मों के और खासकर ईसाई धर्म के खास लक्षण —मनुष्य-मनुष्य की समानता के सिद्धान्त—को आज जितना पतित होते नहीं देखा।

हमारे जमाने में मनुष्य-मनुष्य के वीच जो भयंकर निर्दयता का व्यवहार चल रहा है,उसका प्रधान कारण धार्मिक भावना का नितान्त अभाव तो है ही, इसके अलावा मनुष्य-जीवन इतना पेचीदा वन गया है कि उसकी वजह से मनुष्य अपने कार्यों के परिणामों पर विचार नहीं कर पाते।

चंगेजखां और नादिरशाह एवं उनके अनुयायी चाहे जितने निर्दय हुए हों फिर भी लोगों को अपने हाथों कत्ल करने का कार्य उन्हें अवश्य अरुचिकर प्रतीत हुआ होगा और नर-संहार के परिणाम अर्थात् मौत के घाट उतारे गये लोगों के आश्रितों का क्रन्दन और लाशों का ढेर तो उनके लिए और भी अधिक अरुचिकर हुआ होगा। इस प्रकार उनकी निर्दयता के परिणाम उनकी निर्दयता को कम कर देते थे। लेकिन आजकल लोगों की हत्या करने की हमारी विधि इतनी पेचीदा है और हमारी निर्दयता के परिणाम हमसे इतनी सावधानी के साथ छिपाकर रखे जाते हैं कि निर्दयता पर लगाम लगाने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। फलतः एक श्रेणी के लोगों द्वारा दूसरी श्रेणी पर की जाने वाली निर्दयता दिन-दिन अधिकाधिक वढ़ती ही जा रही है और उसने इतना विकराल रूप धारण कर लिया है कि जैसा आज से पहले कभी नहीं किया था।

हम लोग ऐसी पैशाचिक परिस्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सम्राट् नीरो-जैसे किसी खास नर-पिशाच का मैं यहां जिक्र नहीं करना चाहता। लेकिन मेरा खयाल है कि हमारे जमाने में यह साधारण-सी बात हो गई है कि कोई आदमी घोरतम नारकीय कार्य करके भी वेदाग रह सकता है और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं स्थिति को कायम रख सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई अत्यन्त साधारण व्यापारी आज की सलाह के अनुसार रोगी धनपतियों को तन्दुरुस्त करने के लिए मानव-रक्त के होज में स्नान करवाने की व्यवस्था करे तो उसको ऐसा करने से कोई नहीं रोक सकेगा। सिर्फ उसको आधुनिक सभ्यता के सम्मानपूर्ण और प्रचलित तरीकों को काम में लाना होगा। अर्थात् उसको मनुष्यों का रक्त एकत्र करने के लिए हिंसा का आश्रय नहीं लेना होगा। बल्कि उनको ऐसी परिस्थिति में डाल देना होगा कि वे अपना खून दिये बिना जीवित ही न रह सकें। साथ ही उसे धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों की भी मदद लेनी होगी। धर्माचार्य जिस प्रकार तोपों, जिरह-बख्तरों, जेलखानों और फांसी के तख्तों का समर्थन करते हैं, उसी प्रकार वे मानव-रक्त के हौज का भी समर्थन कर देंगे और वैज्ञानिकों ने जिस प्रकार युद्धों और वेश्यालयों की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए प्रमाण खोज निकाले हैं, वे इसी प्रकार मनुष्यों के रक्त में स्नान करने की प्रथा की आवश्यकता और औचित्य सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण ढूंढ लेंगे।[1]

आजकल लोग जिस धर्म को मानते हैं उसमें सारे धर्मों के आधारभूत सिद्धान्त—अर्थात् मनुष्य-मनुष्य की समानता—को लोग इतना भूल गये हैं, उसकी इतनी उपेक्षा करते हैं, भांति भांति के बेहूदा धार्मिक विधि-विधानों

---

[1] सन् १८६४ में रूस में "संक्रामक रोगों की रोक का क़ानून" बना था। इसका सन् १८६६ में वहां के सर्जनों और चिकित्सकों के शाही विद्यालय ने समर्थन किया था। इस प्रकार के कानून सभ्य संसार में अब भी प्रचलित हैं और वेश्यालयों को इनके अनुसार कानूनी परवाने दिये जाते हैं।

के ढेर के नीचे उसे इतना दबा दिया है और विज्ञान के क्षेत्र में भी यह असमानता जीवन-संघर्ष और सबसे बलवान प्राणी के कायम रहने के सिद्धांत के रूप में इस प्रकार जीवन की अनिवार्य अवस्था स्वीकार की जाती है कि कुछ मुट्ठी भर सत्ताधारियों की सुविधा के लिए लाखों मनुष्यों के प्राणों का नाश एक अत्यन्त साधारण और आवश्यक बात समझी जाती है — और यह संहार निरन्तर जारी है।

१७ वीं शताब्दी में यांत्रिक विज्ञान ने अभूतपूर्व, भव्य और महान् उन्नति की है। लेकिन आजकल के लोग इस बात को नहीं जानते कि वे किस प्रकार इस उन्नति पर पर्याप्त मात्रा में अपनी प्रसन्नता प्रकट करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति की शक्तियों पर विजय प्राप्त करके १९वीं शताब्दी में मनुष्य-जाति ने जितनी भौतिक उन्नति की है उतनी अपने इतिहास में उसने कभी नहीं की। लेकिन साथ-साथ इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि पुराने जमाने में लोगों ने पाशविक प्रवृत्तियों को अंकुश में रखनेवाली शक्ति से स्वतंत्र होकर ऐसा अनैतिक और भ्रष्ट जीवन कभी नहीं बिताया जैसा वे दिन-दिन पशुता की ओर बढ़ने वाले इस जमाने के ईसाई समाज में व्यतीत कर रहे हैं। १९वीं शताब्दी में मनुष्य ने जो भौतिक उन्नति की वस्तुतः वह अत्यन्त महान् थी लेकिन इस उन्नति का भवन अनैतिकता की नींव पर खड़ा किया गया है और किया जा रहा है। सदाचार के मामूली-से-मामूली नियमों की इतनी उपेक्षा की गई है जितनी चंगेजखां, नादिरशाह और सम्राट नीरो जैसे अत्याचारियों के जमाने में नहीं की गई होगी।

इसमें कोई शक नहीं कि फौजी जहाज, रेलें, छापाखाने, पहाड़ों को खोदकर बनाई गई रेलों की सुरंगें, फोनोग्राफ, फोटोग्राफ, सिनेमा, आदि बहुत अच्छी चीजें हैं; लेकिन इनसे भी बढ़कर उत्तम और मूल्यवान—इतनी मूल्यवान कि रस्किन के शब्दों में इनसे बढ़कर और कोई चीज अधिक मूल्यवान नहीं हो सकती—चीजें तो मनुष्यों के जीवन हैं। परन्तु हम देखते हैं कि फौजी जहाज, रेलें और पहाड़ों के भीतर सुरंगें बनाने में लाखों ऐसे मूल्यवान मनुष्य-जीवन आजकल निर्दयतापूर्वक नष्ट

किये जा रहे हैं। और ये चीजें मनुष्य-जीवन को सुन्दर बनाने की अपेक्षा कुरूप ही अधिक बनाती हैं। हमारे इस कथन के जवाब में अक्सर यह कहा जाता है कि मनुष्य-जीवन का आजकल जो विनाश हो रहा है उसकी रोक के लिए साधनों का आविष्कार हो रहा है और आगे भी होगा। लेकिन यह बात बिलकुल झूठ है। जबतक लोग संसार के दूसरे तमाम लोगों को अपना भाई नहीं समझेंगे और जबतक वे मनुष्यों के प्राणों को सब पदार्थों से अधिक पवित्र न मानने लगेंगे—इतना पवित्र कि वे किसी भी कीमत पर उसको बलिदान न करें और इन मनुष्य-प्राणियों को जीवित रखना अपना सर्वप्रथम और आवश्यक कर्तव्य समझें—अर्थात् जबतक लोग आपस में एक-दूसरे के साथ धार्मिकता का व्यवहार नहीं करेंगे, तबतक वे व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक-दूसरे का गला घोंटते रहेंगे। कोई आदमी इतना मूर्ख नहीं हो सकता कि जिस चीज को वह सौ रुपये खर्च कर प्राप्त कर सकता है, उसके लिए वह अपने हत्थे चढ़े हुए कुछ मनुष्यों को बलि चढ़ाने के बजाय हजारों रुपये खर्च करने को राजी हो। शिकागो (अमेरिका) की रेल की सड़कों का उदाहरण लीजिए। वहां हर साल लोग रेलों के नीचे दबकर मर जाते हैं। लेकिन रेलों के मालिक स्वभावतः कभी ऐसे साधनों का उपयोग नहीं करते जिनसे लोग कुचले जाने से बच सकते हैं। क्या आप बता सकते हैं कि उनकी इस उपेक्षा का क्या कारण है? इसकी वजह सिर्फ यही है कि उन्होंने इस बात का हिसाब लगा लिया है कि मरे हुए और घायल व्यक्तियों के परिवारों को उन्हें हर साल जितना रुपया देना पड़ता है उससे वह रुपया कई गुना अधिक होगा जो उन्हें दुर्घटना-निवारक साधनों पर खर्च हुई रकम के ब्याज के तौर पर देना पड़ेगा।

बहुत मुमकिन है कि इन लोगों पर लोकमत का कुछ असर हो और ये लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों के प्राणों का नाश करने में लज्जा अनुभव करने लगें और साथ ही इस बात के लिए भी मजबूर किये जा सकें कि वे दुर्घटना-निवारक साधनों की व्यवस्था करें। लेकिन जबतक लोगों के अन्दर धार्मिक भावना जागृत नहीं होगी और वे अपने सब काम ईश्वर

को साक्षी रखकर नहीं प्रत्युत मनुष्यों को दिखाने और प्रसन्न करने के लिए करते रहेंगे तबतक इस प्रकार की वर्बरता बराबर जारी रहेगी। यदि कहीं एक स्थान पर लोगों की प्राणरक्षा के साधनों की व्यवस्था कर भी दी गई तो दूसरे मामलों में व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए मनुष्यों के जीवन को सर्वोत्तम साधन समझ लिया जायगा।

अगर मनुष्य-जीवन की रक्षा का खयाल न किया जाय तो प्रकृति पर विजय प्राप्त करना, रेलें निकालना, समुद्री जहाज, अजायबघर, बड़े-बड़े कारखाने तथा इसी तरह की चीजें बनाना बहुत सरल हो सकता है। मिश्र के प्राचीन सम्राट अपने निर्माण किये हुए विशाल गुम्बदों पर बहुत गर्व करते थे और स्वयं हम लोगों की आंखों में भी उनको देखकर आनन्दाश्रु बहने लग जाते हैं; लेकिन ऐसा करते समय हम इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं कि इन भव्य और भीमकाय गुम्बदों (पिरामिड़ों का निर्माण करने में असंख्य गुलामों को अपने प्राणों की बलि चढ़ानी पड़ी थी। ठीक इसी भांति हम अपने प्रदर्शन-भवनों, अजायबघरों, फौजी जहाजों, समुद्र के आरपार लगे हुए तारों और बिजली के कारखानों को देखकर आनन्द-मग्न हो जाते हैं, और इस बात को बिलकुल भूल जाते हैं कि इन चीजों के लिए हमें कैसा मूल्य चुकाना पड़ा है। जबतक ये चीजें गुलामों के द्वारा नहीं बल्कि स्वाधीन मनुष्यों द्वारा तैयार न होने लगें, तबतक हमें उनपर गर्व न करना चाहिए।

ईसाई राष्ट्रों ने अमेरिका के भारतवासी हिन्दुओं और अफ्रीका-निवासियों को जीत लिया है। अब वे चीन को भी जीतने की फिक्र में हैं। अपनी इस विजय पर इन ईसाई देशों को गर्व है, लेकिन इससे यह बात कतई साबित नहीं होती कि ईसाई राष्ट्र संसार के दूसरे राष्ट्रों की अपेक्षा आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से ऊंचे उठे हुए हैं, बल्कि बात ठीक इसके विपरीत है। वस्तुतः ये राष्ट्र उन राष्ट्रों से आध्यात्मिकता में बहुत पिछड़े हुए हैं। यहां हम हिन्दुओं और चीन-निवासियों का उल्लेख करना नहीं

चाहते जो कि आध्यात्मिकता में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। लेकिन् जुलू[1] लोगों में प्रचलित बहुत से ऐसे अनिवार्य रूप से पालन किये जानेवाले धार्मिक नियम प्रचलित थे और अब भी हैं, जिनमें यह बतलाया गया है कि मनुष्य को अमुक काम करने चाहिएं और अमुक नहीं। लेकिन हमारे ईसाई देशों में ऐसे धार्मिक नियमों का कतई अस्तित्व नहीं है।

रोम ने संसार पर ठीक उस समय विजय प्राप्त की जिस समय उसने अपने आप को सब प्रकार के धर्मों से स्वतंत्र कर लिया था। कुछ अधिक व्यापक रूप में यही बात आज संसार के ईसाई देशों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है। इन सब देशों ने भी, रोम की भांति, धर्म का बहिष्कार कर दिया है; और इसलिए, इनके बीच आपसी झगड़ों और कलहों के होते हुए भी, इन सबने एक होकर लुटेरों का एक समूह बना रक्खा है। ये राष्ट्र दिन-दहाड़े चोरी करते हैं, दूसरे देशों को लूटते हैं, भले और बुरे उपायों से दूसरों का स्वत्वापहरण करते हैं और सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से नर-संहार करते हैं। इनकी आत्मा को इन नारकीय कृत्यों से जरा भी ठेस नहीं पहुंचती, उल्टे जैसा कि चीन के मामले में हो चुका है, ये अपने इन कृत्यों पर बड़ा आत्म संतोष अनुभव करते हैं। इनमें से कुछ नास्तिक हैं और अपनी नास्तिकता पर उन्हें गर्व है। कुछ अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए जनता पर मायाजाल फैलाने वाले धर्म में विश्वास रखने का बहाना करते हैं और दूसरे कुछ ऐसे भी लोग हैं—और इनमें अधिकांश संख्या सर्व-साधारण समाज की है—जो उन भ्रमात्मक बातों को जो उनके सामने रखी जाती हैं धर्म समझ बैठे हैं और गुलामों की भांति शक्ति-सम्पन्न और नास्तिक सम्मोहनकारियों के आदेशों का अनुसरण करते हैं।

जनता को मायाजाल में फंसाये रखने वाले ये लोग जनता से किस चीज की मांग करते हैं? ये जनता से हमेशा उसी बात की मांग करते रहते हैं जिसकी मांग सम्राट नीरो एवं उसी की समकोटि के अत्याचारियों

---

[1]अफ्रीका की एक जंगली जाति।

ने—जो अपने जीवन की सारहीनता एवं खोखलेपन को किसी-न-किसी उपाय से ढके रखना चाहते थे—जनता से की थी, अर्थात् अपनी उच्छृंखल और घोर विलासिता की संतुष्टि। विलासिता को प्राप्त करने का एक ही तरीका है और वह यह है कि दूसरे लोगों को अपने लिए काम करने को विवश किया जाय—अर्थात् उनको गुलाम बनाया जाय। फलतः विलासिता की वृद्धि के साथ-साथ गुलामी और गुलामों की संख्या में वृद्धि होना अनिवार्य है। दूसरी वजह यह है कि जिन लोगों के तन पर कपड़े नहीं हैं, जो ठंड से ठिठुर रहे हैं जिन के पास पेट भर खाने को अन्न नहीं है तथा जो जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों से वंचित हैं वे ही—और केवल वे ही जिन्दगी भर ऐसा काम कर सकते हैं जिसे करना वे स्वयं तो आवश्यक नहीं समझते, परन्तु जो केवल अपने मालिकों को सुख और आनंद पहुंचाने के लिए आवश्यक समझा जाता है।

: ९ :

बाइबिल के पांचवें प्रकरण में एक बहुत सुन्दर वर्णन है। उसमें ग्रन्थकार ने एक जगह लिखा है कि जल-प्रलय से पूर्व ईश्वर ने यह देखा कि उसने अपनी पूजा-अर्चना के लिए मनुष्यों को जो शक्ति प्रदान की थी उसका वे लोग अपनी व्यक्तिगत लालसाओं की पूर्ति करने में उपयोग करने लग गये हैं। यह देखकर ईश्वर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने इस बात पर पश्चात्ताप प्रकट किया कि उसने आदमियों को क्यों उत्पन्न किया? फिर भी मनुष्यों को एकदम नष्ट करने के बजाय उसने उनकी उम्र १२० वर्ष तय कर दी। बाइबिल के अनुसार परमात्मा जिस बात पर नाराज हुआ था और जिसके परिणामस्वरूप उसने मनुष्यों की उम्र कम कर दी थी, ठीक वही बात आज संसार में नित्य प्रति हो रही है।

मनुष्यों के अन्दर बुद्धि ही वह शक्ति है जो निश्चय करती है कि उनके बीच क्या सम्बन्ध रहे। चूंकि यह बात सूर्य की भांति स्पष्ट है कि विश्व के साथ मनुष्यों का सम्बन्ध समान और एकसा है, हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि धर्म—जो उस सम्बन्ध पर प्रकाश

डालता है—मनुष्यों को एक सूत्र में पिरोता है और मनुष्यों की पारस्परिक एकता से ही सब मनुष्य शारीरिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार का अधिक-से-अधिक कल्याण प्राप्त कर सकते हैं। सर्वोच्च और परम ज्ञान के साथ सम्पूर्ण एकता—जिसको दूसरे शब्दों में हम सम्पूर्ण कल्याण की संज्ञा दे सकते हैं—ही वह आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य-जाति सचेष्ट है और भिन्न-भिन्न जातियों के मनुष्य जब एक स्वर से यह पूछते हैं कि यह विश्व क्या है और उसमें रहनेवाले लोग कौन हैं, तो सब धर्म एक ही जवाब देते हैं और इस प्रकार वे सब मनुष्यों को एक सूत्र में पिरोकर मनुष्यों को कल्याण की प्राप्ति के नजदीक ले जाते हैं। लेकिन जब मनुष्य की बुद्धि अपने नैसर्गिक कर्तव्य-मार्ग से (अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच के सम्बन्ध निश्चित करने और उस सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य के कर्तव्यों का निरूपण करने से) च्युत हो जाती है और उसका उपयोग इस क्षणभंगुर देह के लिए साधन जुटाने, दूसरे लोगों और सृष्टि के दूसरे प्राणियों के साथ कठोर संघर्ष करने, और इस दुर्जीवन का औचित्य सिद्ध करने के निमित्त होने लगता है—और यह मनुष्य-जीवन के उद्देश्य और मनुष्य की प्रकृति के इतना विपरीत है—तो मनुष्य-जाति में उन भयंकर आपदाओं का जन्म होता है जिनका मुक़ाबला आज अधिकांश मनुष्यों को करना पड़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप ऐसी अवस्था पैदा हो जाती है, जिसमें विवेकपूर्ण एवं भला जीवन अपनाना करीब-करीब असंभव प्रतीत होने लगता है।

हमारे नामधारी ईसाई राष्ट्रों की अपेक्षा तो वे मूर्तिपूजक लोग ही सत्य को पहचानने में अधिक समर्थ हैं, जिन्होंने अपरिपक्व धार्मिक शिक्षा से ही सही, अपने को परस्पर ऐक्य सूत्र में बांध रक्खा है। इन ईसाई राष्ट्रों का जीवन तो एकदम अधार्मिक है। इन राष्ट्रों के अग्रगण्य लोगों का यह विश्वास है—जिस को वे दूसरों पर भी प्रकट करते हैं—कि धर्म एक अनावश्यक वस्तु है और बिना किसी धर्म के जीवन व्यतीत करना मनुष्य के लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर है।

मूर्तिपूजक लोगों में ऐसे मनुष्य ढूंढ निकाले जा सकते हैं जो उत्तरोत्तर बढ़ते हुए आधुनिक ज्ञान और अपने धर्म के बीच विरोध अनुभव करते हैं और अपनी बुद्धि के आदेशानुसार एक नवीन धर्म को जन्म देते हैं अथवा स्वीकार करते हैं। उनका यह नवीन धर्म उनके सहधर्मियों को स्वीकार होता है और पुराने धर्म की अपेक्षा उनके देश की आध्यात्मिक अवस्था के अधिक अनुरूप होता है। लेकिन हमारी दुनिया के—अर्थात यूरोप के ईसाई समाज के—लोगों का क्या हाल है? ये लोग किसी भी नवीन और आत्मा को ऊंचा उठानेवाले आन्दोलन की तरफ से आंखें बन्द किये हुए हैं और सत्य की ओर आगे बढ़ने में बिलकुल असमर्थ हैं। दूसरी वजह सिर्फ यह है कि इनमें से कुछ लोग धर्म को सर्वसाधारण को पराधीनता में जकड़े रखने का एक साधनमात्र समझते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो धर्ममात्र को बेहूदगी समझते हैं; और अधिकांश जन-समाज भारी भ्रमजाल के शिकार बन कर यह समझ बैठे हैं कि वे सच्चे धर्म को मानने वाले हैं।

हमारी दुनिया के लोगों ने भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातों में जो उन्नति की है उसपर उनको गर्व है। साथ ही उनको अपनी संस्कृत, निष्क्रिय तर्क-शक्ति पर भी अभिमान है, जिसके द्वारा वे न सिर्फ अपने कृत्यों का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं प्रत्युत इस बात को साबित करने की भी चेष्टा करते हैं कि वे प्राचीन काल के किसी भी युग के लोगों से बढ़े-चढ़े हैं। इस अहंकार ने उनको अज्ञान और अनैतिकता के सांचे में ढाल दिया है; लेकिन फिर भी उनको इस बात का पूरा इत्मीनान है कि वे उन्नति के उस शिखर पर आसीन हैं जहां मनुष्य-समाज आज तक नहीं पहुंच पाया और साथ ही यह भी कि अनैतिक और अज्ञानपूर्ण मार्ग की ओर बढ़ाया गया प्रत्येक कदम उन्हें उन्नति तथा संस्कृति के शिखर पर अधिकाधिक आगे बढ़ाता है।

: १० :

मनुष्य स्वभावतः अपने कायिक (शरीर-सम्बन्धी) और बौद्धिक

(आध्यात्मिक) कार्यों में साम्य स्थापित करने की अभिलाषा रखता है। उसको उस समय तक शांति प्राप्त नहीं हो सकती जबतक वह किसी-न-किसी रूप में अपनी इस अभिलाषा को पूरा नहीं कर लेता। लेकिन यह समता केवल दो ही प्रकार से सिद्ध हो सकती है। एक तरीका यह कि मनुष्य अपनी बुद्धि के द्वारा किसी कार्य अथवा किन्हीं कार्यों की आवश्यकता और औचित्य का निर्णय करे और इसके बाद तदनुसार आचरण करे। दूसरा तरीका यह है कि पहले मनुष्य भावावेश में आकर कुछ कार्यों को कर डाले और फिर उनके समर्थन के निमित्त बौद्धिक कारणों का आविष्कार करे।

कार्यों और विवेक में समता स्थापित करने का पहला तरीका वे लोग अपनाते हैं जो वस्तुतः किसी धर्म को मानने वाले होते हैं और उस धर्म के उपदेशों के आधार पर वे इस बात का निर्णय करते हैं कि उन्हें कौन-सा कार्य करना चाहिये और कौन-सा नहीं। दूसरा तरीका उन लोगों का होता है जो धार्मिक वृत्ति वाले नहीं होते और जिनके पास अपने कार्यों के गुणावगुण का निर्णय करने की कोई कसौटी नहीं होती। इसलिए ये लोग अपने कामों को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसते; प्रत्युत भावों के क्षणिक आवेश में आकर काम कर डालते हैं और बाद में उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए बुद्धि का उपयोग करते हैं और इस प्रकार कार्य और विवेक में समता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

उदाहरणार्थ एक धार्मिक वृत्ति वाला पुरुष है। उसको इस बात की परख है कि उसके तथा दूसरे लोगों के कार्यों में कौन-से कार्य अच्छे हैं और कौन-से बुरे। साथ ही उसको इस बात का भी ज्ञान है कि क्यों एक चीज बुरी होती है और क्यों दूसरी चीज अच्छी। ऐसा पुरुष जब अपने बौद्धिक मन्तव्यों और अपने एवं दूसरे लोगों के कार्यों में विरोध देखता है तो वह मालूम करने की कोशिश करता है कि किस प्रकार उसे अपने कार्यों और विवेक में समता स्थापित करनी चाहिए। वह इस विरोधाभास को नष्ट करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है। इसके विपरीत उस आदमी का उदाहरण

लीजिए जो किसी धर्म को नहीं मानता। उसके पास अपने कर्मों की अच्छाई-बुराई का निर्णय करने के सिवाय इसके और कोई कसौटी नहीं होती कि उन कार्यों से उसको कितना शारीरिक सुख प्राप्त होता है। वह अपने भावों के सामने हमेशा सिर झुका देता है जो असंख्य प्रकार के और अनेक प्रकार परस्परविरोधी होते हैं। ऐसा पुरुष अनिच्छापूर्वक विरोध-जाल में फंस जाता है और जब वह विरोध-जाल में फंस जाता है तो वह उसपर पर्दा डालने के लिए ऐसी दलीलें देता है जो कम या अधिक विस्तृत और चतुराई पूर्ण होती हैं; किन्तु हमेशा असत्य होती हैं। इसीलिए सच्चे धार्मिक पुरुष का तर्क जहां हमेशा सरल, प्रत्यक्ष और सत्यानुमोदित होता है, वहां कर्मविहीन पुरुष की बौद्धिक दलीलें विशेष रूप से सूक्ष्म, जटिल और असत्य-पूर्ण होती हैं।

मैं यहां एक बहुत मामूली, दुराचारी आदमी का उदाहरण पाठकों के सामने रखता हूं। वह शक्तिवान नहीं है, अपनी पत्नी के प्रति वफादार नहीं है अथवा यदि वह अविवाहित है तो दुराचारी है। यदि ऐसा आदमी धार्मिक वृत्ति वाला होगा तो उसे अपने कार्यों के अनौचित्य का पता होगा। वह सारा दिमाग़ इस दिशा में लगा देगा कि उसको दुर्गुणों से किस प्रकार मुक्ति मिले। वह दुराचारी स्त्री-पुरुषों के संसर्ग में आने से अपने को बचावेगा, काम में दत्तचित्त रहेगा और अपने को कड़े नियंत्रण में रक्खेगा। वह किसी स्त्री को अपनी कामवासना की पूर्त्ति का साधन नहीं मानेगा। यह सब इतना सरल है कि हरेक व्यक्ति उसे समझ सकता है।

लेकिन अगर दुराचारी पुरुष धर्मवान न हो तो वह फौरन दुनिया भर के तर्क इस बात को सिद्ध करने के लिए ढूंढने लगेगा कि स्त्रियों के साथ प्रणय-लीला करना एक बहुत अच्छी चीज है। परिणामस्वरूप हमको स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण, सौन्दर्य-प्रेम की स्वतन्त्रता आदि बातों के सम्बन्ध में हर प्रकार के अत्यन्त जटिल, कौशलपूर्ण और सूक्ष्म विचार सुनने को मिलते हैं और जैसे-जैसे इन विचारों का प्रसार होता है वैसे-ही-वैसे वे इस समस्या को अन्धकारपूर्ण बना देते हैं और

मौलिक सत्य पर पर्दा डाल देते हैं।

जिन लोगों के अन्दर धर्म का अभाव होता है उनके सब प्रकार के कार्यों और विचारों में हमेशा ऐसा ही हुआ करता है। उनके कार्यों और विचारों में जो स्वाभाविक विरोध होता है उसपर पर्दा डालने के लिए वे बाल की खाल निकालते तथा जटिल निवन्धों के ढेर लगाते रहते हैं। ये निवन्ध लोगों के दिमाग में हर तरह की अनावश्यक वातें भर देते हैं और आवश्यक एवं महत्वपूर्ण वातों की ओर से उनका ध्यान हटा देते हैं। परिणामतः अनजाने उन्हें इस दम्भ के आदी वना देते हैं जिसके कि हमारी दुनिया के लोग शिकार हो रहे हैं।

वाइविल में लिखा है—"मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार को अधिक पसन्द करते थे, क्योंकि वे दुष्कर्म करने के आदी हो गये थे। कारण जो आदमी कुकर्म करता है वह हमेशा प्रकाश से घृणा किया करता है और *इस डर से वह प्रकाश के नजदीक नहीं जाता कि कहीं उसके ऐसे कामों को* लोग निंदनीय न कहने लगें।"

हमारी दुनिया के लोगों ने धार्मिक भावना के अभाव में अपने जीवन को अत्यन्त क्रूर, पाशविक, अनैतिक और दुराचारपूर्ण बना डाला है। साथ ही उन्होंने अपने पतित जीवन की वुराइयों को छिपाने के लिए ऐसे जटिल, सूक्ष्म एवं निरर्थक तर्क उपस्थित किये हैं जो इस हद्द तक गूढ़ और भ्रमजनक हैं कि वहुसंख्यक मनुष्य समाज न भले और बुरे का निर्णय कर सकता है, और न सच और झूठ की पहचान ही कर सकता है।

इस प्रकार एक भी ऐसी समस्या नहीं वची है जिसपर आजकल के लोग सरलता तथा स्पष्टतापूर्वक विचार कर सकें। हम यहां पर धार्मिक और दार्शनिक वातों का उल्लेख नहीं कर रहे हैं। उनको तो आप अलग रख दीजिए। लेकिन दूसरी सवकी सब समस्याएं—चाहे वे आर्थिक हों, राष्ट्रीय हों, राजनैतिक (स्वदेश-सम्बन्धी अथवा विदेश-सम्बन्धी) हों, अन्तर्राष्ट्रीय हों या वैज्ञानिक हों—सर्वसाधारण के सामने इतने कृत्रिम और गलत रूप में रखी जाती हैं और उन्हें ऐसे जटिल और अनावश्यक

वाग्जाल द्वारा ढक दिया जाता है कि उन समस्याओं से सम्बन्ध रखनेवाले सारे-के-सारे तर्क एक ही बात के चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं और दूसरी बातों से उनका कोई सरोकार नहीं होता। यह कार्य ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार की गति देनेवाला चक्र पट्टे द्वारा दूसरे पहियों के साथ सम्बन्धित न होने की अवस्था में अपने आप घूमा करता है। ऐसे वादविवादों का एक ही उद्देश्य होता है और वह यह कि लोगों की आंखों में वे बुराइयां न आयें जिनको मनुष्य दिन-रात करते रहते हैं।

: ११ :

जिसे हम आजकल विज्ञान कहते हैं उसके किसी भी क्षेत्र को आप ले लीजिए। आपको एक ही बात मालूम होगी—वह यह कि ज्ञान के विविध क्षेत्रों का अन्वेषण करने में मनुष्यों की बुद्धि चकरा जाती है। इसकी वजह यह है कि ये सबके सब वैज्ञानिक अन्वेषण उस मूलभूत प्रश्न को हल नहीं करते जिसका हल करना परमावश्यक है। इसके विपरीत ये ऐसी गौण बातों का परीक्षण करते रहते हैं जिनका कोई परिणाम नहीं निकलता, उल्टे ज्यों-ज्यों मनुष्य परीक्षण-कार्य में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह विषय उसके लिए अधिकाधिक जटिल होता जाता है। जो विज्ञान जीवन के धार्मिक आदर्श के अनुरूप अपने अन्वेषण के विषयों को नहीं चुनता; प्रत्युत मनमाने तौर पर विषयों का चुनाव करता है, उसके सम्बन्ध में इससे विपरीत और कुछ हो भी नहीं सकता; क्योंकि जीवन के धार्मिक आदर्श को आंखों के सामने न रखने से मनुष्य फिर इस बात का खयाल रखना छोड़ देता है कि उसको किन वस्तुओं का अध्ययन करना चाहिये, क्यों करना चाहिए, किस वस्तु का पहले करना चाहिए और किस वस्तु का बाद में। उदाहरणार्थ समाज-विज्ञान और अर्थशास्त्र को ले लीजिए। ये आधुनिक युग के प्रचलित विषय हैं। आपको मालूम होगा कि वास्तव में हमारे सामने एक ही प्रश्न है—"यह क्यों और कैसे होता है कि कुछ लोग तो बिलकुल परिश्रम नहीं करते

और दूसरे लोग रात-दिन उनके लिए घोर परिश्रम किया करते हैं ?" अथवा दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि—"लोग एक-दूसरे को बाधा पहुंचाते हुए अलग-अलग परिश्रम क्यों करते हैं और मिलजुल कर सामूहिक रूप से लाभकारी परिश्रम क्यों नहीं करते ?" लेकिन हमारे प्रथम प्रश्न में ही इस प्रश्न का भी समावेश हो जाता है; क्योंकि अगर दुनिया में असमानता न हो तो मनुष्यों के बीच पारस्परिक लड़ाई-झगड़े होना भी बन्द हो जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि सिर्फ यही एक प्रश्न हमारे सामने होना चाहिये और इसी प्रश्न के निराकरण करने का हमको प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन विज्ञान ऐसा करता कहां है ? विज्ञान तो इस प्रश्न का विवेचन और हल करने के विचार तक से कोसों दूर भागता है। इतना ही नहीं, वह इससे इतनी दूरी से अपना विश्लेषण आरम्भ करता है और इस प्रकार उसको आगे बढ़ाता है कि उसके निष्कर्षों द्वारा न तो समस्या ही हल हो पाती है और न उसके हल होने में कुछ मदद ही मिलती है। विवेचन इस बात का किया जाता है कि पहले किस प्रकार की व्यवस्था थी और आज कैसी स्थिति है। भूत तथा वर्तमान काल को नक्षत्रों की गति के समान ही अपरिवर्तनीय समझा जाता है। अतिसूक्ष्म परिभाषाओं का आविष्कार किया जाता है जैसे—मूल्य, पूंजी, मुनाफा और ब्याज आदि-आदि। इस सबके फलस्वरूप विवादकर्त्ताओं के बीच बुद्धि का जटिल खेल शुरू हो जाता है। सौ साल से यही हो रहा है। सच पूछा जाय तो यह प्रश्न बड़ी सरलता और आसानी के साथ हल किया जा सकता है।

यह सारी समस्या इस प्रकार हल की जा सकती है:—सबसे पहले हम लोग इस सत्य को स्वीकार करें कि संसार के सब मनुष्य भाई-भाई हैं और समान हैं। अतएव प्रत्येक मनुष्य को दूसरे लोगों के साथ ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कि वह उन लोगों से अपने साथ करवाना चाहता है।[1] इस प्रकार यह सारी समस्या अब केवल इस बात पर केन्द्री-

[1] इस भाव को संस्कृत का निम्नलिखित श्लोक और अधिक उत्तम और सुन्दर ढंग से व्यक्त करता है:—

भूत हो जाती है कि झूठे धार्मिक नियमों का नाश करके उनके स्थान पर सच्चे धार्मिक सिद्धान्तों एवं नियमों की स्थापना की जाय। लेकिन संसार के उन्नत कहे जानेवाले व्यक्तियों को यह वाद पसन्द नहीं है। वे इस सत्य को स्वीकार ही नहीं करते, वल्कि इस वात के प्रयत्न में लगे रहते हैं कि लोग उस सत्य को कभी संभव ही न मानें। अतः ये विद्वज्जन निरर्थक वुद्धि-विलास में ही—जिसको ये लोग विज्ञान के नाम से पुकारते हैं—रात-दिन अपने को रत रखते हैं।

दण्ड-विधान के क्षेत्र में भी ठीक यही वात हो रही है। इस क्षेत्र में भी मौलिक प्रश्न सिर्फ एक ही है, कि—"क्या वजह है कि दुनिया में ऐसे लोग मौजूद हैं जो दूसरे लोगों पर वलात्कार करने, उनका शोपण करने, उन्हें जेल में वन्द करने, फांसी पर चढ़ाने, युद्ध-क्षेत्र में मरने के लिए भेजने आदि जघन्य कार्य करने पर आमादा हो जाते हैं?" अगर इस प्रश्न की धार्मिक दृष्टिकोण से —और वस्तुतः यही इस प्रश्न के लिए एकमात्र उपयुक्त दृष्टिकोण है—छानवीन की जाय तो हम वड़ी आसानी से इसको हल कर सकते हैं। धार्मिक दृष्टिकोण कहता है कि किसी भी मनुष्य को अपने पड़ौसी के विरुद्ध हिंसा न करनी चाहिए। अतएव इस समस्या को हल करने के लिए सिर्फ एक वात की आवश्यकता रह जाती है। वह यह कि उन सव अन्ध-विश्वासों एवं वाग्छलों को मिटा दिया जाय जो हिंसा करने की इजाजत देते हैं और ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों को मनुष्यों के मस्तिष्क में विठाया जाय जो स्पष्टतः हिंसा की रोक करने वाले हों।

लेकिन हमारे जमाने के 'उन्नतिशील' पुरुष ऐसा करने के वजाय अपनी वुद्धि का सम्पूर्ण कौशल इस वात में खर्च कर देते हैं कि सर्वसाधारण ऐसे निराकरण की आवश्यकता और शक्यता को ही स्वीकार न करें। वे सव प्रकार के दीवानी, फौजदारी, व्यापारिक, पुलिस-सम्वन्धी, मन्दिरों-

"श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥"

सम्बन्धी और दूसरे सब प्रकार के कानूनों के सम्बन्ध में पुस्तकों के पहाड़-के-पहाड़ रचते रहते हैं। इन कानूनों के पक्ष और विपक्ष में विवाद करते और झगड़ते रहते हैं एवं ऐसा करते समय उन्हें इस बात का पूरा आत्मसंतोष होता है कि वे न केवल एक उपयोगी ही बल्कि साथ-ही-साथ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य भी कर रहे हैं। "क्या वजह है कि प्रकृति ने जिन मनुष्यों को सफल बनाया है उनमें से कुछ तो ऐसे हों जो दूसरों के अपराधों का निर्णय करें, कुछ दूसरों पर बलात्कार करें, दूसरों को यंत्रणा पहुंचावें और उन्हें फांसी पर लटकावें ?" इस प्रश्न का ये लोग कोई जवाब नहीं देते ? उसके अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार इनकी दृष्टि से तो इस तरह का कोई सवाल ही नहीं उठ सकता। उनके सिद्धान्त के अनुसार तो इस सार्वत्रिक हिंसा को करने के दोषी मनुष्य नहीं हैं; बल्कि एक अमूर्त तत्व है, जिसको हम लोग राज्य (State) के नाम से पुकारा करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान के अन्य सभी क्षेत्रों में हमारे जमाने के ये दिग्गज विद्वान जीवन के आधारभूत प्रश्नों को या तो टालते रहते हैं, या उनके बारे में बिलकुल मौन धारण कर लेते हैं, और उन प्रश्नों के अन्दर छिपे हुए पारस्परिक विरोधों को छिपाने की कोशिश किया करते हैं।

इतिहास के विषय को लीजिए। इस सम्बन्ध में महत्व का सवाल सिर्फ यह है कि, "श्रमजीवियों ने (जो सम्पूर्ण मनुष्य-जाति का ९९९/१०००वां भाग हैं) अबतक किस प्रकार का जीवन व्यतीत किया ?" इस सवाल का तो हमको इतिहास के पन्नों में कोई उत्तर नहीं मिलता। उसकी उपेक्षा की गई है। इसके विपरीत एक श्रेणी विशेष के इतिहासवेत्ताओं ने ढेरों पुस्तकें रच डाली हैं जिनमें या तो ग्यारहवें लुई की उदर-पीड़ाओं, इंग्लैंड की रानी एलिजाबेथ अथवा रूस के नृशंस जार इवान के जघन्य कृत्यों, औरंगजेब के अत्याचारों का और नादिरशाह की लूट का वर्णन मिलेगा या यह मिलेगा कि उन-के कौन-कौन मंत्री थे और इन राजाओं, इनकी प्रेमिकाओं और इनके

सचिवों का मनोरंजन करने के लिए साहित्यिक पुरुषों ने कैसे-कैसे काव्य और नाटक लिखे हैं। उधर इसी श्रेणी के इतिहास-लेखक हमको यह बताते हैं कि अमुक लोग जिस देश में रहते थे वह देश कैसा था, वे किस प्रकार के कपड़े पहनते थे, कितनी तरह का और कैसा खाना खाते थे तथा किन-किन चीजों को खरीदते-वेचते थे। इस प्रकार उन्होंने साधारणतः उन सब बातों का वर्णन किया जिनका जनता के वास्तविक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और जिनको केवल उन लोगों के धर्म का प्रतिफल कहा जा सकता है। पर हमारे ये इतिहासवेत्ता धर्म को लोगों के रहन-सहन, खान-पान और वेश-भूषा का ही परिणाम समझते हैं।

फिर भी "श्रमजीवियों ने अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत किया ?" इस प्रश्न का हमें तबतक कोई उत्तर प्राप्त नहीं हो सकता जबतक हम इस बात को स्वीकार न कर लें कि धर्म जनता के जीवन का एक अनिवार्य अंग है और इसलिए इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के धार्मिक विश्वासों के अध्ययन करने पर ही हमारे हाथ लग सकता है। इसकी वजह यह है कि यही धार्मिक विश्वास लोगों के अमुक प्रकार के जीवन के कारण होते हैं।

कोई यह सोच सकता है कि प्राकृतिक इतिहास का अध्ययन तो एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में मनुष्य के साधारण ज्ञान पर पर्दा डालने और उसको धुंधला बनाने की कोई जरूरत नहीं थी; लेकिन इस क्षेत्र में भी आधुनिक विज्ञान ने जो रुख ग्रहण किया हुआ है उसी का अनुसरण किया गया। "चेतन पदार्थों (वृक्षों और प्राणियों) का संसार क्या है, और वह किन-किन भागों में बंटा हुआ है ?" इन प्रश्नों का अत्यन्त सरल उत्तर देने के बजाय बिलकुल निरुपयोगी, गोलमाल और बेकार चर्चा छेड़ दी जाती है जिसका उद्देश्य मुख्यतः सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी पौराणिक वर्णनों को झूठा साबित करना होता है। बहस यह की जाती है कि विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों के रूप किस प्रकार अस्तित्व में आये, हालांकि वास्तव में न तो कोई व्यक्ति इस बात को जानता चाहता है और न वह इसे जान ही

सकता है; क्योंकि जीवों के उद्‌गम को हम कितना ही क्यों न समझावें, वह सदा देश-काल की दूरी के कारण हमारी दृष्टि से ओझल ही रहेगा। फिर भी इस विषय पर तरह-तरह के सिद्धान्त रचे जाते हैं, उन सिद्धान्तों को असत्य सावित किया जाता है, पुनः परिशिष्ट सिद्धान्तों का आविष्कार किया जाता है और इस प्रकार लाखों पुस्तकें इसी एक विषय के सम्बन्ध में रंग दी जाती हैं। अन्त में इस सारे तर्क-वितर्क का जो अकल्पित परिणाम हमारे सामने रखा जाता है, वह यह है कि—जीवन संघर्ष-जीवन का नियम है और मनुष्य को इसी नियम का पालन करना चाहिए।

इसके अलावा ओषधि-विज्ञान तथा शिल्प-कला-विज्ञान जैसे प्रयोगिक विज्ञान धार्मिक सिद्धान्त से कोई पथ-प्रदर्शन न मिलने के कारण अनिवार्यतः अपने युक्तियुक्त पथ से हटकर गलत दिशा में चले जाते हैं। उदाहरणार्थ शिल्प-कला-विज्ञान का उपयोग जनता के परिश्रम को हलका करने में नहीं किया जाता। उसका उपयोग ऐसे सुधार करने में किया जाता है जिनकी केवल धनवानों को जरूरत होती है और ये सुधार धनवानों और गरीबों—मालिकों और गुलामों के बीच के अन्तर को और अधिक बढ़ाने वाले सिद्ध होते हैं। अगर इन आविष्कारों और सुधारों का थोड़ा बहुत लाभ मजदूरों को मिल जाता है तो इसकी वजह यह कतई नहीं है कि वे जनता की भलाई को दृष्टि में रखकर किये गये थे; बल्कि उसकी वजह केवल यह है कि जनता को उस लाभ से वंचित नहीं रखा जा सकता।

यही बात ओषधि-विज्ञान (आयुर्वेद-डाक्टरी) के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यह विज्ञान गलत दिशा की ओर इतना अधिक जा चुका है कि अब केवल लक्ष्मी के लाडले और धनवान लोग ही उससे लाभ उठा सकते हैं। दूसरी ओर सर्वसाधारण का जिस प्रकार का जीवन है और जिस गरीबी में वे पड़े हुए हैं और गरीबों के जीवन को सुधारने-सम्बन्धी प्रश्नों की हमने जिस प्रकार अवहेलना की है, उसकी वजह से सर्वसाधारण को जिन स्थितियों में ओषधि-विज्ञान की सहायता मिलती है, उनसे यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि ओषधि-विज्ञान अपने वास्तविक उद्देश्य

से कितना भटक गया है।

आजकल जिसको दर्शन-शास्त्र कहा जाता है, उसमें भी अनिवार्य प्रश्नों की उपेक्षा और उनका विकृत रूप बड़े स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होता है। सिर्फ एक ही मुख्य प्रश्न है जिसका दर्शन-शास्त्र को उत्तर देना है और वह यह कि—

"मेरा कर्तव्य क्या है ?" यूरोपीय राष्ट्रों के दर्शनशास्त्रों में इस प्रश्न के उत्तर किसी हद्द तक दिये भी गये हैं—हालांकि स्पिनोजा, केण्ट (जैसा कि उसके व्यावहारिक तर्क की आलोचना नामक ग्रन्थ में लिखा है) शोपनहार और विशेषतः रूसो ने अपने मन्तव्यों में बहुत कुछ ऐसी बातें भी सम्मिलित कर दी हैं जो अनावश्यक और जटिल हैं। लेकिन जबसे हेगल ने (जिस का कथन है कि—जो-कुछ अस्तित्वमय है, वह सब तर्कसम्मत है) इस क्षेत्र में कदम रक्खा है, तबसे "मेरा कर्तव्य क्या है ?" इस प्रश्न को पीछे धकेल दिया गया है। दर्शनशास्त्र ने पदार्थों का उनके वर्तमान स्वरूप में अनुसन्धान करने और उनका पूर्व निश्चित सिद्धांतों के साथ सामंजस्य मिलाने में अपनी सारी शक्ति लगा दी है। दर्शन-शास्त्र का पतन की ओर यह पहला कदम था। इस दिशा में दूसरा कदम, जिसने मानव-विचार को अवनति की ओर थोड़ा और अग्रसर किया, उस समय बढ़ाया गया, जब दर्शन-शास्त्र ने जीवन-संघर्ष को जीवन का मौलिक नियम मान लिया। सिर्फ इसलिए कि ऐसा संघर्ष वृक्षों एवं पशुओं में देखा जा सकता है, इस नवीन सिद्धान्त के प्रभाव में आकर लोग अब यह मानने लगे हैं कि दुर्बलों का विनाश एक ऐसा नियम है कि जिसमें हमें बाधा नहीं पहुंचानी चाहिए। अन्त में पतन की ओर तीसरा कदम उस वक्त बढ़ाया गया जब हमारे जमाने के अग्रगण्य पुरुषों ने अर्ध-विक्षिप्त नीत्शे के अपने आप को मौलिक साबित करने के थोथे प्रयत्नों को दर्शनशास्त्र के अंतिम वचन मान लिया। नीत्शे ने जनता के सामने किसी भी बात को अपने सम्पूर्ण और सुगठित रूप में नहीं रक्खा, बल्कि उसने अत्यन्त निराधार विचारों को अनैतिक और अस्त-व्यस्त रूप में एकत्र कर दिया है। 'हमारा

क्या कर्तव्य है ?' इस प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट शब्दों में यह उत्तर दिया जाता है—'दूसरे लोगों के जीवन की कुछ परवाह न करो और अपनी इच्छानुसार जीवन बिताओ

अगर किसी व्यक्ति को हमारे ईसाई समाज की इस पाशविकता और मूढ़ता में शंका हो तो नीत्शे के निबन्धों की सफलता से ही उसकी शंका का निवारण हो जाना चाहिए। यदि ईसाई समाज का इतना घोर नैतिक पतन न हो गया होता तो क्या यह संभव था कि दक्षिण अफ्रीका और चीन में जो हत्याकाण्ड हुए वे बिना किसी विरोध के चुपचाप सहन कर लिये जाते ? हमारे धर्मगुरुओं तक ने इनका समर्थन किया और दुनिया के बड़े-बड़े लोगों ने उनको महान कार्य घोषित किया। कैसी विचित्र बात है ! एक यश-लोलुप व्यक्ति जो एक साहसी, किन्तु सीमित और साधारण जर्मन था, द्वारा लिखित कुछ असम्बद्ध निबन्ध—जिनका उद्देश्य लोगों पर जबर्दस्ती प्रभाव डालना होता है—प्रकाशित होते हैं। इन लेखों में न तो कोई बौद्धिक प्रतिभा ही होती है और न युक्तियुक्तता ही, कि जिसकी वजह से लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो सके। केण्ट, लाइब्निज अथवा ह्यूम के जमाने में या उनसे पचास वर्ष पहले अगर ऐसे लेख लिखे जाते तो जनता का उनकी ओर ध्यान आकर्षित होना तो दूर रहा उनके प्रकाशित होने की भी नौबत नहीं आती। लेकिन हमारे जमाने में मनुष्य-जाति के सबके सब शिक्षित कहे जानेवाले लोग नीत्शे की बकवास पर बहुत प्रसन्न होते हैं। वे उसके विचारों के सम्बन्ध में परस्पर वाद-विवाद करते हैं, दूसरे लोगों को समझाते हैं और संसार की सब भाषाओं में उसकी रचनाओं की असंख्य प्रतियां छापी जाती हैं।

तुर्गनेव एक स्थान पर विनोद में आकर लिखता है कि दुनियां में कुछ 'बेसिर पैर की बातें' हैं। ऐसी बातें वे लोग किया करते हैं जिनमें प्रतिभा का अभाव होता है, लेकिन जो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है कि पानी गीला होता है। लेकिन अचानक हमारे सामने एक आदमी आकर खड़ा हो

जाता है और गम्भीरतापूर्वक कहने लगता है कि—"अरे भाई, वरफ नहीं, पानी सूखा होता है।" और जव इस प्रकार की वात आत्मविश्वास-पूर्वक कही जाती है तो लोगों का ध्यान उस ओर अवश्य आकर्षित हो जाता है।

इसी तरह सारा संसार इस वात को जानता है कि इन्द्रिय-दमन और आत्म-त्याग ही मनुष्योचित गुण हैं। इस वात को न केवल ईसाई लोग ही जानते हैं (जिनके साथ नीत्शे का ख्याल है कि वह झगड़ रहा है) वल्कि यह एक ऐसा अमर और सर्वश्रेष्ठ नियम है जिसको सम्पूर्ण मनुष्य-जाति स्वीकार करती है। क्या ब्राह्मण धर्म, क्या वौद्ध धर्म, क्या कन्फ्यूशियन धर्म और क्या पुराने जमाने का पारसी धर्म, सवने इस नियम की श्रेष्ठता को स्वीकार कर रक्खा है; लेकिन अचानक एक आदमी आता है और वह अपने इस आविष्कार की घोषणा करता है कि आत्मत्याग, तपस्या, विनय, प्रेम, दूसरों के प्रति आदर का भाव इत्यादि सव वुराइयां हैं जो मनुष्य-जाति का सर्वनाश कर रही हैं। यहां वह सिर्फ ईसाई धर्म का जिक्र करता है और दुनिया के दूसरे सव धर्मों को भूल जाता है। यह समझ में आने योग्य वात है कि पहले पहल इस प्रकार का कथन लोगों को असमंजस में डाल दे। लेकिन कुछ विचार करने के पश्चात और उस व्यक्ति के लेखों में वर्णित अस्पष्ट मन्तव्यों की सच्चाई का कोई प्रमाण न पाने पर प्रत्येक विवेकशील पुरुष को ऐसी पुस्तकों का वहिष्कार कर देना चाहिए और इस वात पर आश्चर्य भी प्रकट करना चाहिए कि आजकल के प्रकाशक ऐसी-ऐसी मूर्खता-पूर्ण एवं निरर्थक पुस्तकों को प्रकाशित करने में भी नहीं सकुचाते। लेकिन नीत्शे की रचनाओं के सम्वन्ध में इस तरह का रवैया अख्तियार नहीं किया गया। सभ्यताभिमानी समुदाय के अधिकांश लोग गम्भीरतापूर्वक नीत्शे के 'अति-मनुष्यत्व' (Super-Humanity) के सिद्धान्त पर विचार-विनिमय करते हैं, इस सिद्धान्त के प्रवर्तक को महान तत्त्ववेत्ता का पद प्रदान करते हैं और उसको डिस्क्रेटीज, लाइब्निज एवं केण्ट का उत्तराधिकारी मानते हैं।

यह सव किसलिए हुआ? सिर्फ इसलिए कि हमारे जमाने के

सभ्यताभिमानी लोगों का अधिकांश समुदाय प्रत्येक ऐसी बात को नापसन्द करता है जो उन्हें मनुष्योचित गुणों की याद दिलाती हो अथवा उन गुणों के आधार-स्तम्भों—आत्म-त्याग और प्रेम—का स्मरण कराती हो। ये लोग ऐसी किसी बात को पसन्द नहीं करते जो उनके प्रचलित पाशविक और अनैतिक जीवन को निन्दनीय ठहराती हो अथवा उनके इस जीवन को संयमित बनाती हो। बल्कि ये लोग प्रसन्नता-पूर्वक स्वार्थ और निर्दयता से भरे हुए ऐसे सिद्धान्तों का स्वागत करते हैं जिनका उद्देश्य—फिर वे सिद्धान्त चाहे कितने ही साधारण समझ में न आने योग्य और असंगत रूप में क्यों न व्यक्त किये गये हों—उस प्रणाली का समर्थन करना होता है जो दूसरे लोगों के परिश्रम और कमाई पर खुद मौज उड़ाने और बड़े बनने की व्यवस्था को कायम रखती है। इसी प्रणाली के अनुसार उपरोक्त नकली सभ्यताभिमानी लोग अपना जीवन बिताते हैं।

: १२ :

ईसा-मसीह ने यहूदियों के धर्म-गुरुओं और विद्वानों की इसलिए भर्त्सना की थी कि उन्होंने स्वर्ग के द्वार की चाबियों को हथिया लिया था; पर न तो वे स्वयं स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करते थे और न दूसरे लोगों को उसमें प्रविष्ट होने देते थे।

हमारे जमाने के ज्ञानी और विद्वान् पुरुष भी ठीक यही काम कर रहे हैं। इन्होंने स्वर्ग के राज्य की चाबियों पर तो कब्जा नहीं जमाया है; लेकिन शिक्षा और संस्कृति के भवन की चाबियों पर अधिकार जमा रक्खा है। न तो स्वयं उसमें प्रवेश करते हैं और न दूसरे लोगों को घुसने देते हैं।

सब प्रकार की धोखेबाजियां और मायाजाल के सहारे धर्म के दलालों ने—धर्म-गुरुओं और पण्डे-पुजारियों ने—जन-साधारण के दिमाग में इस धारणा को बिठा दिया है कि ईसाई धर्म मनुष्य-मनुष्य की समानता (विश्वबन्धुता) के सिद्धान्त की शिक्षा नहीं देता और इसलिए वह लोगों की वर्तमान सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था का नाशक भी नहीं है। इसके विपरीत वह आधुनिक समाज-व्यवस्था का समर्थक है, आकाश में स्थित

नक्षत्रों की भांति एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के वीच भेद-भाव रखने का आदेश देता है और उन्हें अलग-अलग जातियों और वर्गों के सदस्य मानता है। ये धर्म-गुरु प्रत्येक प्रचलित धार्मिक संस्था और राज्य-प्रणाली को ईश्वरानुमोदित मानते हैं और उसकी आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। सार यह कि ये लोग समाज के दलित और पीड़ित लोगों को यह सुझाया करते हैं कि स्वयं ईश्वर ने उनको इस दयनीय स्थिति में डाल रक्खा है, मनुष्यों का इसमें जरा भी दोप नहीं है और इसलिए उनको चाहिये कि वे विनय-पूर्वक और दीनता के साथ अपनी इस अवस्था को सहन करते रहें। साथ ही उन्हें अपने अत्याचारियों—सम्राटों, राजाओं, पोपों, मठाधीशों, धर्म-गुरुओं, पण्डे-पुजारियों, सरकारी अफसरों और आध्यात्मिक तथा सांसारिक सभी प्रकार के वड़े लोगों-की आज्ञाओं का भी यथावत् पालन करना चाहिये; लेकिन इन अत्याचारियों के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे विनयशील और दीन-वृत्ति वाले हों, वल्कि उन्हें चाहिये कि वे अपने अधीन जनता को धार्मिक उपदेश अथवा सजायें दे-देकर सुधारते रहें और स्वयं भोग-विलास एवं शान-शौकत की जिन्दगी वसर करते रहें। उनके अधीन लोगों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने अत्याचारियों के लिए भोग-विलास और शान-शौकत के साधन जुटाते रहें। आजकल का ईसाई धर्म—और दूसरे धर्मों की दशा भी अव करीव-करीव ऐसी ही है—लोगों को इसी तरह की वातों की शिक्षा दे रहा है और इस झूठी धार्मिक शिक्षा से प्रभावित और इसका प्रवल समर्थक शासक-समुदाय जनता पर कड़ाई के साथ शासन करता है और लोगों को शासकों के प्रमाद, भोग-विलास और पापाचारों के साधन जुटाने को विवश करता रहता है। इन अत्याचार-पीड़ितों और अत्याचारियों के अतिरिक्त एक तीसरी श्रेणी के लोग भी समाज में हैं। ये हैं वैज्ञानिक लोग जिन्होंने इस धार्मिक मायाजाल से अपने आपको मुक्त कर लिया है। सिर्फ इन्हीं के अन्दर जनता को अत्याचारों से मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य है। लेकिन ये लोग भी जनता की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते। वे हमेशा

यही कहा करते हैं कि उनकी ऐसा करने की अभिलाषा है; लेकिन वे इस उद्देश्य को सिद्ध करने के बजाय ठीक इसके विपरीत कार्य कर रहे हैं और मन-ही-मन समझते हैं कि उन कार्यों के द्वारा वे जनता की सेवा कर रहे हैं।

प्रत्येक विवेकशील पुरुष इस बात की इच्छा करेगा कि कितना अच्छा होता अगर इन लोगों ने इस बात को देखा होता कि वास्तव में कौन-सी वस्तु जनता को प्रेरित किया करती है और कौन सी वस्तु उनको अपनी वर्तमान पतित अवस्था में पड़ा रखती है; फिर ये लोग अपनी सारी ताकत शक्ति के उस उद्गम-स्रोत को संचालित करने में लगा देते। जिन लोगों ने सर्व-साधारण को पराधीन बना रक्खा है वे लोग किस चीज से सबसे अधिक भय खाते हैं, यदि इसपर सरसरी तौर पर विचार किया जाय तो यह मालूम किया जा सकता है कि कौन सी शक्ति जनता को प्रेरित करती है और कौन-सी उनको अपनी प्रचलित स्थिति में कायम रखती है। परन्तु हमारे वैज्ञानिक इस ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। उल्टे वे इसको बिलकुल निरर्थक कार्य समझते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग असलियत को जानना ही नहीं चाहते। ये लोग शुद्ध हृदय से और लगन के साथ विविध प्रकार के लोकोपयोगी कार्य करते रहते हैं; परन्तु जनता के लिए जो सबसे पहली और सबसे आवश्यक बात है उसको कभी हाथ तक नहीं लगाते। अतएव इन लोगों का यह सारा कार्य ठीक उस आदमी के कार्य के समान है जो एक पूरी रेलगाड़ी को बल-पूर्वक आगे धकेलने का प्रयत्न करता है, हालांकि उसको जरूरत सिर्फ इस बात की है कि वह गाड़ी के एंजिन पर सवार हो जाय और फिर उस काम को करने लगे जिसको वह बार-बार ड्राइवर को करते हुए देखता है—अर्थात् भाप को पहियों में पहुंचाने के लिए एक लीवर को घुमा दे। मनुष्यों की जीवन-सम्बन्धी धार्मिक कल्पना की हम उस भाप से तुलना कर सकते हैं। कितना अच्छा होता अगर

वैज्ञानिक इस वात को जान जाते कि भिन्न-भिन्न देशों का शासक-समुदाय कितनी उत्सुकता और सतर्कता-पूर्वक इस प्रेरक-शक्ति को—जिसके द्वारा वह जनता पर हुकूमत करता और अधिकार जमाये रखता है—अपने अधीन वनाये रखने का प्रयत्न करता रहता है। यदि मानव-समाज के अग्रणी पुरुष इस तथ्य को समझ लें तो उन्हें ज्ञात हो जायगा कि जनसाधारण को गुलामी और अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए उन्हें किस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए।

तुर्की के सुलतान को किस चीज की रक्षा करने की सवसे अधिक चिन्ता थी और किस चीज से वह सहायता की आशा रखता था ? रूस का सम्राट् अपनी यात्रा के समय किसी नगर में प्रवेश करते ही सवसे पहला काम कुमारी मेरी की मूर्त्ति को अथवा किसी सन्त-महात्मा के भग्नावशेष को चूमने का क्यों करता था ? अपनी सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का इतना अधिक गर्व अनुभव करते हुए भी जर्मन सम्राट् अपने सव भाषणों में—उचित और अनुचित सभी अवसरों पर—ईश्वर, ईसामसीह, धार्मिक पवित्रता, शपथ इत्यादि वातों का उल्लेख क्यों किया करता था ? केवल इसलिए कि ये सव लोग इस वात को जानते हैं कि इनकी शक्ति का आधार सेना है और सेना का आधार—निःसन्देह यह एक विचित्र वात है कि सेना-जैसी चीज का भी समाज में अस्तित्व हो—धर्म है। यदि धनवान लोग साधारणतः विशेष रूप से धर्म-भीरू होते हैं और मन्दिरों में जाकर और उपवास-व्रत रख कर धर्म के प्रति श्रद्धा रखने का दिखावा करते हैं तो इसका मुख्य कारण यह है कि आत्म-रक्षा का भाव उनको इस वात की चेतावनी देता है कि समाज में उन्होंने जो एक विशेष और अपने लिए लाभदायक दरजा वना लिया है वह तभी तक कायम रह सकता है जवतक कि वे प्रचलित धर्म को मानते रहें।

वहुधा इन लोगों को इस वात का पता नहीं होता कि धार्मिक दम्भ पर किस प्रकार उनके विशेषाधिकार निर्भर हैं; लेकिन आत्मरक्षा की भावना उनको उस व्यवस्था के कमजोर स्थल की सूचना दे देती है, जिस

पर कि उनकी शक्ति का आधार होता है, और ये लोग सबसे पहले उस कमजोर स्थल का ही बचाव करते हैं। कुछ हद तक ये लोग साम्यवादी और क्रान्तिकारी प्रचार होने देते हैं, लेकिन धर्म के आधार-स्तम्भों पर उन्होंने कभी किसी को हाथ नहीं डालने दिया।

इसलिए हमारे जमाने के अग्रगण्य पुरुषों —विद्वानों, उदार-दल वालों, साम्यवादियों, क्रांतिकारियों और अराजकों—को यदि इतिहास और मनोविज्ञान का अध्ययन करने पर भी इस बात का पता नहीं लगता कि कौन-सी शक्ति जनता को प्रेरित करती है तो उनके समाधान के लिए यह स्पष्ट दिखलाई पड़नेवाली बात पर्याप्त होनी चाहिए कि वह प्रेरक-शक्ति भौतिक पदार्थों में नहीं है, बल्कि वह सिर्फ धर्म में ही विद्यमान है।

फिर भी यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि हमारे विद्वान और अग्रगण्य पुरुष जो भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के जीवन की अवस्थाओं को जानते और उनपर सूक्ष्म वाद-विवाद करते हैं, सीधी और स्पष्ट बात को नहीं देख सकते जो प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करती है। अगर ये लोग समाज के अल्पसंख्यक समुदाय में अपनी सुविधाजनक स्थिति कायम रखने के लिए जान-बूझकर जनता को धार्मिक अज्ञान में पड़े रहने देते हैं तो इसे भयंकर और वीभत्स दम्भ कहना होगा। यही वे लोग हैं जिनको ईसा ने खासतौर पर दम्भी कह कर निंदनीय ठहराया था। क्योंकि मनुष्य-जीवन में इन लोगों ने जितनी खराबियां पैदा की हैं उतनी बुरे-से-बुरे आदमी ने भी न की होंगी।

लेकिन अगर इन लोगों के अन्दर सच्चाई है और ये अपना काम शुद्ध हृदय से कर रहे हैं तो बुद्धि पर पर्दा पड़ने का हमको इसके अतिरिक्त और कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता कि जिस प्रकार जनसाधारण झूठे धर्म के मायाजाल में फंसे हुए हैं उसी प्रकार आजकल के ये नकली सभ्यताभिमानी पुरुष भी झूठे विज्ञान के मायाजाल में फंसे हुए हैं। इस झूठे विज्ञान ने इस बात की व्यवस्था दी है कि मानव-समाज की प्रमुख प्रेरक-

शक्ति अर्थात् धर्म—जिसने अवतक मनुष्यजाति को प्रेरित किया और जो अव भी प्रेरित कर रही है—विलकुल निकम्मा हो गया है और उसका स्थान किसी दूसरी वस्तु को मिल जाना चाहिए।

: १३ :

हमारी दुनिया के शिक्षित और विद्वान लोगों का यह भ्रम अथवा दम्भ ही इस जमाने की विशेषता है। मनुष्य-जाति की वर्तमान दयनीय अवस्था और आपदाओं का कारण इन लोगों का यह भ्रम और दम्भ ही है और इसी वजह से मानव-समाज दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक पाशविक होता जा रहा है।

आजकल के शिक्षित लोगों को यह कहने की कुछ आदत-सी पड़ गई है कि सर्व-साधारण में प्रचलित झूठे धार्मिक विश्वासों का कोई महत्व नहीं है और इसलिए उन विश्वासों के विरुद्ध जिस प्रकार ह्यूम, वाल्टेयर, रुसो आदि लोगों ने प्रत्यक्ष लड़ाई लड़ी थी वैसी लड़ाई लड़ना आवश्यक और महत्वपूर्ण नहीं है। उनका खयाल है कि विज्ञान के द्वारा अर्थात् उस विशृंखल और आकस्मिक ज्ञान के द्वारा जिसका वे जनता में प्रचार करते रहते हैं, यह कार्य सम्पन्न हो जायगा और जो लोग इस बात को जान जायंगे कि पृथ्वी से सूर्य कितने करोड़ मील दूर है और सूर्य तथा नक्षत्रों में किस-किस तरह के धातु विद्यमान हैं, वे लोग पण्डे-पुजारियों की वातों में विश्वास रखना अपने आप वन्द कर देंगे।

इस सच्चे अथवा झूठे कथन या मन्तव्य में एक भारी भ्रम या भयंकर दम्भ निहित है। वाल्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में ही—उन वर्षों में जव कि वालक के दिल पर प्रत्येक वस्तु की तुरन्त छाप पड़ा करती है और जव वालकों को शिक्षण देनेवाले लोग इस वात की पूरी सावधानी नहीं रख सकते कि उन्हें किस प्रकार की शिक्षा दी जाय—वालक पर कथित धर्म के नाम ऐसे मूर्खतापूर्ण और अनैतिक विधि-विधानों का मायाजाल फैला दिया जाता है जो हमारे ज्ञान और वुद्धि के विलकुल विपरीत होते हैं। उसको त्रिमूर्ति के आस्तित्व की शिक्षा दी जाती है जिसको हमारी विवेक-शक्ति

कभी स्वीकार नहीं कर सकती। मनुष्य-जाति के उद्धार के लिए तीनों देवताओं में से किसी के पृथ्वी पर अवतार लेने, उनके निर्वाण पाने और स्वर्ग में चले जाने की शिक्षा दी जाती है। उसे कहा जाता है कि ईसा पुनः जन्म लेगा और जो इन बातों में विश्वास नहीं करता उनको कल्पांत तक नरक-यातनायें सहनी पड़ेंगी। उसको यह भी सिखलाया जाता है कि जिस चीज की उसको जरूरत हो उसके लिए वह परमात्मा की प्रार्थना करे। इसी प्रकार की और भी अनेक बातें उसको सिखाई जाती हैं और जब ये सारी बातें (जो वास्तव में मनुष्य की आत्मा, बुद्धि और प्रचलित ज्ञान-सामग्री के बिलकुल विपरीत होती हैं) बालक के कोमल मन पर अमिट रूप से अंकित कर दी जाती हैं तो उसे इन धार्मिक विधि-विधानों से उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक विरोधों के जंजाल में भटकने के लिए अकेला छोड़ दिया जाता है। उन बातों को असंदिग्ध रूप से सच मान लेने से उसकी अवस्था अत्यन्त दयनीय बन जाती है। वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। क्या सत्य है, और क्या असत्य—इस बात का विवेक करने की शक्ति उसके अन्दर नहीं रहती। ऐसी अवस्था में उसको कोई आदमी यह नहीं बतलाता कि उसे किस प्रकार इन पारस्परिक विरोधों में साम्य स्थापित करना चाहिये अथवा यदि आध्यात्मिकता के ठेकेदार इन विरोधों में साम्य स्थापित करने की कुछ कोशिश करते भी हैं तो उनके प्रयत्न मामले को पहले से भी ज्यादा पेचीदा और दुर्बोध बना देते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे आदमी के अन्दर यह धारणा गहरी जड़ जमा लेती है (और आध्यात्मिकता के ठेकेदार उसकी इस धारणा का प्रबल समर्थन करते हैं) कि उसकी अपनी बुद्धि विश्वास के योग्य नहीं है और इसलिए कोई भी चीज इस दुनिया में सम्भव हो सकती है; और यह भी कि मनुष्य के अन्दर ऐसी कोई योग्यता नहीं है जिसके द्वारा वह स्वयं अच्छाई को बुराई से और सत्य को असत्य से जुदा कर सके। इसके अलावा धीरे-धीरे वह इस बात को सोचने का भी आदी हो जाता है कि अपने लिए जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—अर्थात उसके दैनिक कार्य—उसमें भी उसको अपनी बुद्धि

से काम नहीं लेना चाहिये; वल्कि दूसरे लोग जैसा कह दें उसी प्रकार उसको करते जाना चाहिए। पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि इस प्रकार की शिक्षा मनुष्यों के आध्यात्मिक संसार को कितने भयंकर रूप से दूषित और पतित वना देगी ! खास कर उस समय जव कि वयस्क उम्र में भी धर्मगुरू लोगों पर हर किस्म के मायाजाल फैलाते रहते हैं।

अगर कोई पुरुष अपनी वाल्यावस्था में ऐसे धार्मिक मायाजाल के वातावरण में पला हो और जवानी के दिनों में भी उसने ऐसे मायाजाल को अपनाये रखा हो, और अगर वह अपने आत्मिक-वल, उद्योग और कष्ट-सहन के द्वारा अपने-आप को इस मायाजाल से मुक्त करले तो भी उसके मस्तिष्क में उस विकार का कुछ असर वाकी रह ही जायगा, जो यह कहकर पैदा किया गया था कि उसको अपनी वुद्धि पर भरोसा नहीं करना चाहिए। यदि शरीर को कोई अवयव किसी तीक्ष्ण विष से विषाक्त हो जाय तो उसका असर पूर्णतः नहीं मिट-सकता। यही वात मानसिक विकृति पर भी लागू होती है। जो आदमी इस दम्भ के जाल से अपने आप को मुक्त कर लेता है और उस असत्य से घृणा करने लगता है जिसके जाल से वह अभी-अभी मुक्त हुआ होता है, ऐसे आदमी के लिए यह विलकुल स्वाभाविक है कि वह आजकल के प्रगतिशील लोगों के विचारों को अंगीकार कर ले और हर प्रकार के धर्म को मनुष्य-जाति के उन्नति-पथ का एक रोड़ा मानने लगे। इस विचार को ग्रहण कर लेने पर वह व्यक्ति खुद भी अपने आचार्यों की भांति एक सिद्धांत-हीन व्यक्ति वन जाता है। फिर उसके अन्दर किसी प्रकार की आत्म-चेतना वाकी नहीं रहती और जीवन में वह केवल अपनी इच्छाओं के वशवर्ती होकर काम करने लगता है। अपनी इस अवनत अवस्था को निन्दनीय नहीं समझता, इसके विपरीत वह उसे मानसिक विकास की सर्वोच्च अवस्था समझने लगता है जो मनुष्य के लिए सुलभ हो सकती है।

दृढ़ चित्त वाले व्यक्तियों का यही हाल होता है; लेकिन जो इतने दृढ़ नहीं होते उनके मन में शंकाएं भले ही उठती हैं, पर वे पूर्ण रूप

से अपने आपको उस मायाजाल से मुक्त नहीं कर सकते जिसमें वे पले होते हैं। जिन बहुधा विधि-विधानों को वे स्वीकार कर चुके होते हैं, उनका समर्थन करने के लिए वे नाना प्रकार के धूर्ततापूर्ण, जटिल सिद्धांत मानने लगते हैं या नये गढ़ लेते हैं। वे शंका, अस्पष्टता, मिथ्या विश्वास और दम्भ की दुनिया में रहते हैं और जनसाधारण को माया-जाल में रखने में सहयोग देते हैं और उनमें ज्ञान के प्रसार का विरोध करते हैं।

लेकिन बहुसंख्यक लोगों की जीवनचर्या ज्यों-की-त्यों चलती रहती है। उनपर जो मायाजाल फैलाया जाता है उसका सामना करने का न तो उनमें सामर्थ्य होता है और न उन्हें वैसा करने का अवसर ही मिलता है। वे वर्तमान काल की भांति सदियों तक एक ही प्रकार का जीवन बिताते रहते हैं, सर्वोच्च मानव-कल्याण अर्थात् जीवन के संबंध में सच्चे धार्मिक ज्ञान से वंचित रहते हैं और हमेशा उन वर्गों के हाथों के खिलौने बने रहते हैं जो उनपर शासन करते हैं और उन्हें धोखा देते रहते हैं।

हमारे जमाने के अगुआ और विद्वान पुरुष इसी भयंकर मायाजाल को महत्वहीन और नगण्य समझते हैं। वे इसपर सीधा आक्रमण करना नहीं चाहते। अगर उनका सच्चाई के साथ यह विश्वास है तो उसकी वजह सिवाय इसके और कोई मालूम नहीं होती कि वे स्वयं झूठे विज्ञान के भ्रम-जाल में फंसे हुए हैं। अगर उनका यह विश्वास सच्चाई को लिये हुए नहीं है तो उनके इस व्यवहार का यही कारण हो सकता है कि प्रचलित धार्मिक विश्वासों पर आक्रमण करना लाभदायक नहीं होता और बहुधा खतरनाक होता है। कुछ भी हो, यह कथन बिलकुल झूठ है कि मिथ्या धर्म को मानते रहने से जनता को कोई नुकसान नहीं पहुंचता—और अगर नुकसान पहुंचता है, तो वह नुकसान कोई महत्व नहीं रखता—इसलिए बिना धार्मिक प्रपंच और मायाजाल को नष्ट किये ही जनता में ज्ञान-विज्ञान, शिक्षा और संस्कृति का प्रसार किया जा सकता है।

मनुष्य-जाति के लिए अपने दुःखों और आपदाओं से वच निकलने का एक ही रास्ता है। वह यह कि एक तो वह धर्मगुरुओं द्वारा फैलाये गये मायाजाल से अपने आपको मुक्त करले, और दूसरे उस मायाजाल में पड़ने से भी अपने आपको वचावे जिसकी ओर आजकल के विद्वान पुरुप उसको घसीट ले जाना चाहते हैं। भरी हुई वोतल में दूसरी चीज डालने के लिए यह आवश्यक है कि पहले उसमें पड़ी हुई चीज वाहर निकाल दी जाय। इसी तरह यह जरूरी है कि जनता को झूठे धार्मिक मायाजाल से मुक्त किया जाय, ताकि फिर वह नवीन सच्चे धर्म को ग्रहण करने के योग्य वन सके। यह सच्चा धर्म और कुछ नहीं, सर्वान्तर्यामी परमात्मा के साथ (मनुष्य-जाति ने अवतक जो उन्नति कर ली है उसके अनुसार) वांधा गया यथार्थ संवंध है और इस संवंध को पहचान लेने पर लोग उससे अपने जीवन में पथ-प्रदर्शन पा सकते हैं।

: १४ :

वास्तव में कोई सच्चा धर्म है भी ? दुनिया में हमको तो हजारों तरह के धर्म दिखलाई पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में हमको क्या अधिकार है कि हम उनमें से किसी खास धर्म को इसलिए सिर्फ सच्चा मानें कि वह हमारी रुचि के अधिक अनुकूल है ?"—ऐसे सवाल अकसर उन लोगों की तरफ से पूछे जाते हैं जो धर्म के वाहरी स्वरूपों को एक प्रकार की वीमारी समझते हैं और जो इस वीमारी से अपने आपको मुक्त किंतु दूसरों को उसका शिकार समझते हैं। उनकी यह मान्यता सही नहीं है। धर्मों के वाह्य रूप अलग-अलग होने पर भी उनके मूलतत्व एक-जैसे होते हैं और यही वे सिद्धांत हैं जो तमाम धर्मों के मूलाधार हैं, इन्हीं से उस सच्चे धर्म का निर्माण होता है जो आधुनिक युग में हम सव लोगों के लिए उपयुक्त हो सकता है और जिसको मान लेने से मनुष्य-जाति अपने कष्टों से छुटकारा पा सकती है।

मनुष्य-जाति को अस्तित्व में आये असंख्यवर्ष हो गये हैं। इन असंख्य वर्पों के अन्दर इसने पीढ़ी-दर-पीढ़ी, जिस प्रकार अनेक व्यावहारिक

आविष्कार किये और उनका विकास किया, उसी प्रकार वह ऐसे आध्यात्मिक सिद्धांतों का आविष्कार और विकास किये विना भी नहीं रह सकती थी जो मनुष्य-जीवन के लिए आधार-स्वरूप बने हुए हैं। इसी प्रकार इन आध्यात्मिक सिद्धांतों से उत्पन्न होनेवाले व्यवहार-नियमों का आविष्कार और विकास भी मनुष्य-जाति ने किया है। अगर अंधे लोग इन बातों को नहीं देख सकते तो इससे यह साबित नहीं होता कि वे बातें विद्यमान नहीं हैं।

सब लोगों के समान रूप से आचरण करने योग्य धर्म इस समय मौजूद है। यह कोई ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जिसकी अपनी कुछ विशेषताएं और विकृतियां हों बल्कि यह एक ऐसा धर्म है जिसमें ऐसे सिद्धांतों का समावेश है जो सभी बड़े-बड़े धर्मों में समान रूप से पाये जाते हैं। इन सिद्धांतों को मनुष्य-जाति के ९० प्रतिशत लोग आज भी अंगीकार किये हुए हैं और मनुष्यों के अबतक पूर्णरूपेण पाशविक न बन जाने की वजह भी सिर्फ यही है कि तमाम राष्ट्रों के अच्छे-अच्छे लोग अनजान में सही, इस धर्म को मानते और इसका पालन करते रहते हैं। यदि जनता इस धर्म को विवेक-पूर्वक अंगीकार नहीं कर रही है तो इसका कारण केवल यह है कि वैज्ञानिकों और धर्म-गुरुओं की सहायता से उसको मायाजाल में फंसा रखा गया है।

इस सच्चे धर्म के सिद्धांत मनुष्यों के लिए इतने स्वाभाविक हैं कि ज्योंही वे लोगों के सामने रक्खे जाते हैं त्योंही लोग उन्हें बिल्कुल परिचित और स्वयंसिद्ध सिद्धांत समझकर स्वीकार कर लेते हैं। हमारे लिए ईसाई धर्म ही सच्चा धर्म है; लेकिन यह उसी हद तक हमारे लिए सच्चा धर्म है जिस हद तक कि इसके और ब्राह्मण-धर्म, कनफ्यूशियन-धर्म, ताऊ-धर्म, यहूदी-धर्म, बौद्ध धर्म और मुस्लिम-धर्म के बाह्य विधिविधान नहीं, बल्कि मूलभूत सिद्धांत एक समान मिलते हैं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण, कनफ्यूशियन इत्यादि धर्मों को मानने वाले हैं, उनके लिए भी वही धर्म सच्चा धर्म है जिसके आधार-भूत सिद्धांत दूसरे तमाम धर्मों के आधार-

भूत सिद्धांतों से मेल खाते हों और संसार के समस्त धर्मों के यह आधारभूत सिद्धांत अत्यन्त सरल, बुद्धिगम्य और स्पष्ट हैं।

वे सिद्धांत इस प्रकार हैं। सब पदार्थों का चर-अचर सृष्टि का आदिकारण एक सर्वव्यापी परमात्मा है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर उस पूर्ण ब्रह्म की ज्योति का एक अंश विद्यमान है। भले-बुरे कर्मों द्वारा मनुष्य अपनी इस ईश्वरीय ज्योति के अंश को स्वयं बढ़ा या घटा सकता है। ईश्वरीय ज्योति के इस अंश का विकास करने के लिए मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी वासनाओं का दमन करे और अपने अन्दर प्रेमभाव, अहिंसा-वृत्ति की वृद्धि करे। इस उद्देश्य को सिद्ध करने का व्यावहारिक तरीका यह है कि हम दूसरे लोगों के प्रति वैसा ईश्वरीय व्यवहार करें जैसा हम दूसरे लोगों से अपने लिए चाहते हैं। ब्राह्मण-धर्म, यहूदी-धर्म, कनफ्यूशिन-धर्म, मुस्लिम-धर्म इत्यादि सब धर्मों में ये सिद्धांत समान रूप से विद्यमान हैं। बौद्ध धर्म यद्यपि ईश्वर को नहीं मानता और उसने ईश्वर की कोई व्याख्या नहीं की है, तथापि वह एक ऐसे पदार्थ को अवश्य मानता है जिसके साथ मनुष्य का तादात्म्य-संबंध है और जिसमें निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात मनुष्य विलीन हो जाता है। अतएव जिसके साथ मनुष्य का तादात्म्य-संबंध है और निर्वाण-प्राप्ति के पश्चात जिसमें मनुष्य विलीन हो जाता है, वह वस्तुतः वही आदि-कारण है जिसको यहूदी-धर्म, ईसाई-धर्म और मुस्लिम-धर्म ने ईश्वर के नाम से संबोधित किया है।

आजकल के जो लोग अलौकिक अर्थात अर्थशून्य तत्व को ही धर्म का मुख्य चिन्ह समझने के अभ्यस्त हैं, वे कहेंगे कि यह तो धर्म नहीं है। "इसे आप दर्शन-शास्त्र, आचार-शास्त्र, मीमांसा-शास्त्र और इसी प्रकार के किसी दूसरे शास्त्र का नाम भले ही दे दें; लेकिन इसको आप धर्म कदापि नहीं कह सकते।" इन लोगों के मतानुसार तो मूर्खतापूर्ण और समझ में न आने योग्य पदार्थ का नाम धर्म है। लेकिन सच बात तो यह है कि इन्हीं सिद्धांतों द्वारा, अथवा यों कहिये कि इन सिद्धांतों के धर्म-तत्वों के रूप में प्रचारित होने के परिणामस्वरूप और

इनको विकृत बनाने की क्रिया के एक लम्बे काल तक जारी रहने के पश्चात उन तमाम अलौकिक और अद्भुत घटनाओं की कल्पना की गई जो कि आजकल प्रत्येक धर्म की मूलभूत लक्षण समझी जाती हैं। यह कथन कि अलौकिक और अविवेकपूर्ण बातें ही धर्म का सबसे मुख्य लक्षण हैं, ठीक वैसा ही है जैसा एक सड़े सेब को खाकर यह कहना कि कड़वाहट और पेट में खराबी पैदा करना ही सेब नामक फल के खास लक्षण हैं।

लेकिन धर्म ऐसा पदार्थ नहीं है। धर्म बताता है कि मनुष्य और समस्त पदार्थों के मूल स्रोत परमात्मा का क्या संबंध है और मनुष्य-जीवन का क्या उद्देश्य है जो कि उस संबंध के फलस्वरूप पैदा होता है। यह धर्म उस उद्देश्य के अनुसार ही मनुष्य के लिए आचरण-संबंधी नियम सुलभ करता है और जो सार्वभौम धर्म होता है और जिसके प्रारम्भिक सिद्धांत दूसरे तमाम धर्मों के सिद्धांतों से मेल खाते हैं, उसमें धर्म की उपरोक्त सब बातों का समावेश हो जाता है। ऐसा धर्म मनुष्य और ईश्वर के बीच के पारस्परिक संबंध की व्याख्या करता है अर्थात् यह बतलाता है कि मनुष्य संपूर्ण तत्व का एक अंश है। इस विधि से वह मनुष्य-जीवन का उद्देश्य निश्चित करता है और यह उद्देश्य सिवाय इसके और कुछ नहीं होता कि मनुष्य अपने अन्दर विद्यमान ईश्वरीय अंश की वृद्धि करे। मनुष्य-जीवन का यह उद्देश्य मनुष्य को आचरण-संबंधी कुछ आदेश देता है जिसका सार यह है कि दूसरों के साथ तुम वैसा ही बर्ताव करो जैसा तुम अपने प्रति दूसरों से करवाना चाहते हो।

लोग बहुधा इस बात में शंका किया करते हैं—और स्वयं मैंने भी एक बार ऐसी शंका की थी—कि क्या इस प्रकार का नियम—अर्थात 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'—मनुष्य-जीवन का उसी प्रकार एक अनिवार्य व्यवहार-नियम बन सकता है जिस प्रकार कि उपवास, प्रार्थना, आदि नियम बने हुए हैं। लेकिन हमारी इस शंका का समाधान उस समय पूरे तौर पर हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक देहाती किसान

किसी देव-मन्दिर से मिले हुए प्रसाद को अपवित्र स्थान में रखने की अपेक्षा मर जाना अधिक श्रेष्ठ समझता है; लेकिन वही किसान सत्ताधारियों का आदेश मिलने पर अपने भाइयों को कत्ल करने में जरा भी संकोच अनुभव नहीं करता।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इस नियम के फलस्वरूप कुछ आदेश बनते हैं। जैसे दूसरों की हत्या न करो, दूसरों की निन्दा न करो, व्यभिचार न करो, बदला न लो, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए दूसरों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों का अनुचित लाभ न उठाओ आदि-आदि। क्यों न इन आदेशों का ठीक उसी प्रकार जोरों से प्रचार किया जाय और क्यों न उनको वैसा ही अनिवार्य और अनुल्लंघनीय करार दिया जाय जैसा कि धर्मशास्त्रों और मूर्तियों की पवित्रता में विश्वास रखना अनिवार्य और अनुल्लंघनीय माना जाता है? लोगों का यह विश्वास किसी स्पष्ट आन्तरिक अनुभूति पर नहीं बल्कि सहज श्रद्धा पर ही निर्भर होता है।

: १५ :

हमारे जमाने के तमाम लोगों के लिए समान रूप से उपयुक्त सिद्ध होने वाले इस धर्म की सच्चाइयां इतनी सरल, इतनी बुद्धिगम्य और प्रत्येक मनुष्य के हृदय के इतनी निकट हैं कि मनुष्य-जाति की वर्तमान संपूर्ण जीवन-चर्या को बदलने के लिए माता-पिताओं, शासकों और शिक्षकों को सिर्फ एक ही बात करनी चाहिए। वह यह कि वे बालकों और बालिगों के दिमागों में त्रिमूर्तियों, कुमारी माताओं, पाप-कर्मों से उद्धार करने के कार्यों, देवी-देवताओं, इंद्रों और मुहम्मद साहब एवम् भगवान् बुद्ध के स्वर्गलोक को उड़ जाने-संबन्धी वाहियात और गये-गुजरे सिद्धान्तों को जिनमें कि वे खुद बहुधा विश्वास नहीं करते, न ठूंसें। इसके बजाय उन सरल और स्पष्ट सिद्धांतों (सत्यों) की शिक्षा दें जिनका आध्यात्मिक निचोड़ इस बात में है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर ईश्वर का अंश विद्यमान है और जिनका व्यावहारिक नियम यह है कि प्रत्येक मनुष्य को

अपना आचरण इस वाक्य के अनुरूप रखना चाहिये—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् । मैं यहां दूसरे धर्मों का उल्लेख नहीं करता; लेकिन हमारे ईसाई समाज के वालकों के अन्दर आजकल इस प्रकार के भाव भरे जाते हैं और वालिग व्यक्तियों में उन्हें पुष्ट किया जाता है कि ईश्वर ने अपने पुत्र (ईसामसीह) को इसलिए पृथ्वी पर भेजा कि लोग आदम के पाप से मुक्ति पा सकें; उसने अपने गिर्जे की स्थापना की, जिसकी आज्ञाओं का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। इन विश्वासों से निकलने वाले नियमों का पालन करना चाहिए अर्थात् ईश्वर की प्रार्थना, पूजा और अर्चना कव और कहां की जाय, अमुक प्रकार का भोजन कव न किया जाय और कौन-से दिन काम न किया जाय यानी छुट्टी रक्खी जाय। लेकिन अगर इन वातों की शिक्षा देने के वजाय सिर्फ यह वताया जाय और वाद में उसकी पुष्टि की जाय कि सव लोगों के अन्दर ईश्वरीय शक्ति का अंश विद्यमान है और हम लोग अपनी जीवन-चर्या और आचरण के द्वारा अपने अन्दर स्थित इस ईश्वरीय अंश की वृद्धि कर सकते हैं तो मनुष्य-जाति का कितना उपकार हो सकता है। यदि उपरोक्त सत्य एवं उससे पैदा होनेवाले मनुष्य-जीवन-संवंधी स्वाभाविक नियमों की लोगों को उसी प्रकार शिक्षा दी जाय जिस प्रकार आज-कल अलौकिक घटनाओं के अर्थ-शून्य किस्से सुनाये जाते हैं और उन किस्सों के आधार पर निर्मित अर्थहीन विधि-विधानों का पालन करने की शिक्षा दी जाती है, तो मनुष्य-जाति के अन्दर प्रचलित वर्त्तमान उद्देश्यहीन कलह और वैमनस्य निश्चय ही समाप्त हो सकते हैं और हम शीघ्र ही संपूर्ण मानव-समाज को कूट-नीति-विशारदों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, शांति-परिषदों, अर्थशास्त्र के पंडितों और विभिन्न श्रेणियों के साम्यवादियों की सहायता के विना ही एक सार्वभौम धर्म द्वारा परिचालित होता हुआ और शांतिमय, संयुक्त और सुखी जीवन व्यतीत करता हुआ देख सकते हैं।

लेकिन इस प्रकार की कोई वात नहीं हो रही है। झूठे धर्म के माया-जाल को नष्ट करने और उसके स्थान पर सच्चे धर्म की शिक्षा देन

तो दूर रहा, लोग दिन-प्रतिदिन सत्य से इतने दूर भागते जा रहे हैं कि उनके लिए सत्य को स्वीकार करना बिलकुल असंभव होता जा रहा है।

जो बात इतनी स्वभाविक, आवश्यक और संभव है, उसको भी लोग नहीं कर रहे हैं। इसकी खास वजह हमको तो इसके अतिरिक्त और कोई दिखलाई नहीं पड़ती कि दीर्घकाल तक धर्म-हीन जीवन व्यतीत करते रहने के कारण लोग हिंसा, संगीनों, गोलियों, जेल-खानों और फांसी की तख्तियों के द्वारा अपने अस्तित्व को स्थापित करने और कायम रखने के इतने अधिक आदी हो गये हैं कि वे मनुष्य-समाज की आधुनिक व्यवस्था को न केवल स्वाभाविक, वल्कि एकमात्र संभव व्यवस्था मानने लगे हैं। जो लोग प्रचलित समाज-व्यवस्था से लाभ उठा रहे हैं केवल उन्हीं की ऐसी धारणा नहीं है, प्रत्युत जो लोग इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के नीच कुचले जा रहे हैं वे भी इस मायाजाल के शिकार होकर इतने अधिक मूढ़ वन गये हैं कि वे हिंसा को ही मानव-समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने का एकमात्र साधन मानते हैं। किंतु यह उस सामाजिक व्यवस्था और हिंसा द्वारा सार्वजनिक हितों की रक्षा करने की योजना का ही फल है कि लोगों को अपने कष्टों के कारणों को समझने में सबसे अधिक कठिनाई होती है और फलस्वरूप उत्तम समाज-व्यवस्था की स्थापना नहीं हो पाती।

इसके परिणाम समाज के लिए अत्यन्त भयंकर और घातक सिद्ध हो रहे हैं। यदि वुरा और दुष्ट-प्रकृति का डाक्टर किसी वीमार के पेट में हलाहल पहुंचा दे तो वीमारी और ज्यादा वढ़ जायगी और उसका उपचार असंभव हो जायगा। ठीक यही दशा हमारे समाज की हो रही है।

जनता को गुलामी की वेड़ियों में जकड़े रखने वाले सत्ताधारी लोग अपने मन में सोचा करते हैं और कहते रहते हैं कि हमारे मरने के वाद दुनियां डूव जावेगी।[१] सेना, धर्मगुरुओं, फौज के सिपाहियों, पुलिसवालों

[१] श्रीमती पाम्पेदौर कहा करती थी कि "After me (us) the deluge" अर्थात् मेरे मरने के वाद तो दुनिया में प्रलय हो जायगा।

की सहायता से संगीनों, गोलियों कैदखानों और फांसी-घरों का भय दिखाकर गुलाम जनता को बड़ी आसानी से विवश कर सकते हैं कि वह दासता और अज्ञान में जकड़ी रहे और शासकों को शोषण करने से न रोके। शासक यही करते हैं और अपने इस कार्य को समाज में सुव्यवस्था कायम रखने का नाम देते हैं; लेकिन सच पूछा जाय तो उत्तम समाज-व्यवस्था स्थापित करने के मार्ग में इससे बढ़कर बाधक और कुछ नहीं है। इस प्रकार उत्तम समाज-व्यवस्था स्थापित होना तो दूर रहा, उल्टे दुष्टता की ही स्थापना होती है।

इन सब बातों के होते हुए भी लोगों में अब भी धार्मिक सिद्धांतों की कुछ मात्रा मौजूद है और अगर हमारे ईसाई राष्ट्रों की जनता के सामने समाज में सुव्यवस्था और सदाचार की रक्षा का दम भरनेवाले लोगों के द्वारा किये गये अपराधों के सतत उदाहरण—याने युद्धों, फांसियों कैदखानों, कर-वसूली और शराब एवं अफीम की बिक्री आदि उदाहरण न होते तो वह आजकल धोखा, हिंसा और हत्यामूलक जो अपराध कर रही है, उसका सौवां हिस्सा भी करने की कल्पना नहीं करती। आज तो वह इन अपराधों को अच्छे और स्वाभाविक काम समझकर कर रही है।

मनुष्य-जीवन का नियम ही कुछ इस प्रकार का है कि उसको सुधारने का केवल एक ही तरीका है। चाहे समाज के जीवन को सुधारना अभीष्ट हो, चाहे व्यक्ति के जीवन को। पूर्णता प्राप्त करने की दृष्टि से हमारे जीवन का आंतरिक नैतिक विकास होना चाहिये। बाहरी दबाव—अर्थात् हिंसा द्वारा मनुष्यों के जीवन को सुधारने के सारे प्रयत्न लोगों के सामने बुराई का उदाहरण रखते हैं और बुराई के लिए अत्यन्त कारगर प्रचारक साबित होते हैं। इसलिए इस प्रकार के प्रयत्न मनुष्य-जीवन का सुधार नहीं करते। इसके विपरीत बुराई में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हैं और मनुष्य को अपने जीवन-सुधार के एकमात्र वास्तविक मार्ग से अधिकाधिक दूर ले जाते हैं।

व्यवस्था और सदाचार के रक्षकों द्वारा कानून के नाम पर हिंसा और अपराधों की मात्रा ज्यों-ज्यों अधिकाधिक और निर्दयतापूर्वक बढ़ती जायगी और ज्यों-ज्यों धर्म के नाम पर फैले हुए झूठे मायाजाल के द्वारा उसका समर्थन होता रहेगा, त्यों-त्यों लोगों की यह धारण अधिकाधिक दृढ़ होती जायगी कि दूसरे लोगों की सेवा करना और उनसे प्रेम रखना मनुष्य-जीवन का नियम नहीं है, बल्कि मनुष्य-जीवन का नियम तो यह है कि वे परस्पर एक-दूसरे से झगड़ते रहें और एक-दूसरे को हड़प कर जायं। ज्यों-ज्यों उनका यह विचार दृढ़ होता जायगा जो लोगों को पशुओं की श्रेणी में गिरा देता है, त्यों-त्यों उनके लिए अपने ऊपर फैले हुए माया-जाल को छिन्न-भिन्न करने और अपने जीवन के आधारस्वरूप हमारे जमाने के सच्चे धर्म को —जो सारी मनुष्य-जाति के लिए समान है— स्वीकार करने का काम अधिकाधिक मुश्किल होता जायगा।

इस प्रकार चारों ओर एक भयंकर इंद्रजाल फैला हुआ है। धर्म के अभाव ने हमारे जीवन को पाशविक बना दिया है, जिसका आधार ही हिंसा है। हिंसा पर आधार रखनेवाले पाशविक जीवन ने हमारे लिए इस इंद्रजाल से मुक्ति पाना और सच्चे धर्म को अंगीकार करना अधिकाधिक असंभव बना दिया है और इसलिए मनुष्य उन कार्यों को नहीं करते जो इस युग में अत्यन्त स्वाभाविक, संभव और आवश्यक हैं— अर्थात् धर्म के मायाजाल और नकलीपन को नष्ट नहीं करते और न सच्चे धर्म को अंगीकार करके उसका प्रसार ही करते हैं।

: १६ :

क्या इस लुभावने इंद्रजाल में से बच निकलने का कोई रास्ता संभव है? अगर है, तो वह कौन-सा रास्ता है?

ऊपर से देखने पर तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिन सरकारों ने सार्वजनिक हित की दृष्टि से जन-साधारण के जीवन का पथ-प्रदर्शन करना अपना कर्त्तव्य समझ रक्खा है, वही हमको इस इंद्र-जाल से छुड़ा देंगी। जिन लोगों ने हिंसा पर निर्भर समाज-व्यवस्था को बदलने और उसके स्थान पर

पारस्परिक सेवा और प्रेम पर आश्रित न्यायोचित समाज-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया है, उनकी हमेशा यही धारणा रही है। ईसाई समाज-सुधारकों और यूरोप के भिन्न-भिन्न साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रवर्त्तकों ने भी जनता के कष्टों का अन्त करने का सरकारों को एकमात्र साधन समझा था। सुप्रसिद्ध चीनी समाज-सुधारक श्री० मोतें का भी यही मत था। उन्होंने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर चीन की सरकार से यह अनुरोध किया था कि वह पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालकों को फौजी कवायद और तत्सम्बन्धी विज्ञान की शिक्षा देना बन्द कर दे और सैनिक पराक्रम प्रदर्शित करनेवाले किसी बालिग व्यक्ति को पारितोषिक, सम्मान एवं उपाधियां न दे; प्रत्युत, इसके स्थान पर बालक और वयस्क सभी को परस्पर एक-दूसरे से प्रेम रखने और एक-दूसरे का आदर पाने की शिक्षा दे और जो लोग दूसरों के प्रति अद्‌भुत प्रेम दिखलावें, उन्हें प्रोत्साहन और पारितोषिक दे। किसानों में सुधार-कार्य करने वाले धर्म-परायण व्यक्तियों की भी यही सम्मति थी और है। इनमें से कइयों को मैं जानता था और अब भी जानता हूं। एक वृद्ध पुरुष ने रूस के सम्राट् की सेवा में पांच बार इस आशय का आवेदन-पत्र भेजा था कि शाही-फरमान द्वारा झूठे धर्म का मूलोच्छेद कर दिया जाय और उसके स्थान पर सच्चे ईसाई धर्म के प्रचार करने की आज्ञा दी जाय।

लोगों को यह बात बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती है और वे सोचते हैं कि जनता के हित-साधन के लिए सारकारें केवल उन्हीं साधनों का इस्तेमाल करना चाहती हैं जिनसे जनता को कोई नुकसान न पहुंचे और जिनके द्वारा अधिक-से-अधिक अच्छा परिणाम निकल सके; क्योंकि सरकारें लोगों की हित-रक्षा के नाम पर ही अपने अस्तित्व का समर्थन करती हैं। किन्तु सरकारों ने कभी भी इसे अपना कर्तव्य नहीं समझा। बल्कि, इसके विपरीत, उन्होंने सर्वत्र और सर्वदा अपने युग में प्रचलित झूठे और सत्त्व-हीन धर्म की अत्यन्त आसक्तिपूर्वक रक्षा करने का प्रयत्न किया है और जिन लोगों ने जनता को सच्चे धर्म के सिद्धान्तों से अवगत कराने

का प्रयत्न किया उनका हर प्रकार से दमन किया है। वस्तुतः इसके अतिरिक्त और कुछ हो भी नहीं सकता था; क्योंकि सरकारें प्रचलित धर्मों के पाखण्ड का भण्डा फोड़कर और जनता को धर्म की शिक्षा देकर अपने ही हाथों अपने पांवों पर कुल्हाड़ी कैसे मारतीं ? यह तो वैसी ही बात होती जैसी कि आदमी पेड़ की उसी डाली को खुद अपने हाथों काटने की कोशिश करे जिसपर वह स्वयं बैठा हो।

परन्तु अगर सरकारें इस कार्य को नहीं करतीं तो यह निश्चित-सा है कि जिन विद्वानों ने झूठे धर्म के माया-जाल से अपने आपको मुक्त कर लिया है और जो यह कहते हैं कि वे जन-साधारण की सेवा करने के इच्छुक हैं; क्योंकि जनता के परिश्रम की बदौलत उन्होंने शिक्षा प्राप्त की है और उनका पालन-पोषण हुआ है, वे अवश्य ही इस कार्य को करेंगे। पर ये लोग भी सरकारों की तरह इस सम्बन्ध में बिलकुल अकर्मण्य बने हुए हैं। इसकी पहली वजह यह है कि सरकारें जिस पाखण्ड की रक्षा करती रहती हैं उस पाखण्ड का भण्डा फोड़ करके ये लोग सत्ताधारियों की नाराजगी मोल लेने और परिणामतः कष्टों और आपदाओं को सहन करने की जोखिम उठाने को तैयार नहीं हैं। वे सोचते हैं कि वह पाखण्ड अपने-आप मिट जायगा। दूसरी वजह यह है कि ये लोग सबके सब धर्मों को एक दुर्बलतायुक्त भूल समझते हैं और इसलिए जिस माया-जाल का नाश करने की इन लोगों से आशा की जाती है, उस मायाजाल के बदले दूसरी कोई चीज इनके पास जनता को देने के लिए नहीं है।

अब रह जाता है वह महान् अशिक्षित जन-समुदाय जो मन्दिरों और मठों के ऐन्द्रजालिक प्रभाव में है और साथ ही सरकारों के दम्भ का भी शिकार है। यह विशाल जन-समाज उस नकली धर्म को ही, जिसको इसने अंगीकार कर रक्खा है, एकमात्र सच्चा धर्म मानता है और उसका खयाल है कि इसके सिवाय न तो कोई दूसरा धर्म है और न हो सकता है। यह बहुसंख्यक जन-समाज अत्यन्त विकट और सतत माया-जाल में फंसा हुआ है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी ये लोग उसी अज्ञानाच्छन्न अवस्था में जन्म

धारण करते, जीवन व्यतीत करते और मर जाते हैं, जिसमें धर्म-गुरुओं और सरकारों द्वारा ये रहने को बाध्य किये जाते हैं। और अगर ये लोग इस ऐन्द्र-जालिक प्रभाव से अपने आप को मुक्त कर भी लें तो इनके अन्दर अज्ञान की मात्रा इतनी अधिक है कि वे फौरन उन वैज्ञानिकों के चंगुल में फंस जाते हैं जो किसी भी धर्म को नहीं मानते, इन वैज्ञानिकों का प्रभाव धर्म-गुरुओं के प्रभाव की भांति ही निरर्थक और हानिकर सिद्ध होता है।

इस प्रकार अधर्म का खण्डन और सद्धर्म का प्रचार जहां कुछ लोगों के लिए लाभदायक नहीं, वहां दूसरे लोगों के लिए एक असम्भव कार्य है।

: १७ :

ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस दलदल में से बच निकलने का कोई मार्ग ही नहीं है।

यह बात वास्तव में सच भी है कि अधार्मिक लोगों के लिए इस विकट परिस्थिति में से निकलने का न तो कोई रास्ता है और न हो ही सकता है। समाज के उच्च वर्ग और शासक-समुदाय के लोग जन-साधारण के कल्याण की कितनी ही चिन्ता क्यों न प्रकट करें वे कभी भी गम्भीरता-पूर्वक जनता की अज्ञानपूर्ण और पराधीन अवस्था दूर करने का प्रयत्न नहीं करेंगे; क्योंकि उस अवस्था में ही उच्च वर्ग के लोग जनता पर शासन करते रह सकते हैं। उनका लक्ष्य सांसारिक होता है, इसलिए वे ऐसा नहीं कर सकते। इसी प्रकार गुलामी की बेड़ियों से जकड़ी हुई सर्वसाधारण जनता भी, जिसका उद्देश्य साधारणतः अपनी सांसारिक वासनाओं की तृप्ति करना होता है, झूठी धार्मिक शिक्षा की पोल खोलते हुए उसके स्थान पर सच्चे धर्म के उपदेशों का प्रचार करके सत्ताधारियों के खिलाफ लड़ाई छेड़कर अपनी विषम परिस्थिति को और अधिक विषम बनाना नहीं चाहती। इन दोनों श्रेणियों के लोगों में ऐसा कार्य करने की कोई प्रेरणा विद्यमान नहीं है; और अगर ये लोग समझदार और दूरदर्शी हैं तो भी करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

लेकिन धर्म-परायण लोगों की बात बिलकुल जुदा है। चाहे समाज

कितना ही पतित, भ्रष्ट और दूषित क्यों न हो जाय, फिर भी समाज में ऐसे लोग ढूंढने पर अवश्य मिल ही जाते हैं जो धर्म की पवित्र ज्योति को अपनी सच्चरित्रता और सदाचार-पूर्ण जीवन से हमेशा जगमगाये रखते हैं। इस पवित्र धार्मिक ज्योति के अभाव में मनुष्य-जीवन कभी कायम नहीं रह सकता। हां, यह बात सच है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसे अवसर आया करते हैं (और वर्तमान युग भी इसी प्रकार का एक अवसर है) जब ऐसे लोग एक कोने में पड़े रहते हैं, उनकी कोई पूछ नहीं होती; उनका तिरस्कार किया जाता है, उनको अनेक प्रकार की यंत्रणायें पहुंचाई जाती हैं; निर्वासित किया जाता है, जेलों में डाला जाता है; लेकिन फिर भी वे जीवित रहते हैं और उन्हीं की तपस्या और बलिदान पर मनुष्य-जाति का बौद्धिक जीवन निर्भर करता है । इन लोगों की संख्या कितनी ही कम क्यों न हो, किन्तु यही लोग हैं जो मनुष्यों को दासता-पाश में जकड़े रखने वाले इस भयानक इन्द्रजाल को नष्ट कर सकते हैं और करेंगे। ये लोग इस पवित्र कार्य को कर सकते हैं; क्योंकि एक सांसारिक मनुष्य को प्रचलित समाज-व्यवस्था का विरोध करने में जिन असुविधाओं और खतरों का सामना करना पड़ता है, वे धार्मिक पुरुषों के मार्ग को नहीं रोक सकते, उलटे वे असत्य का विरोध करने के लिए और भी उत्साह दिलाते हैं और जिसको वे ईश्वरीय सत्य समझते हैं, उसको शब्द और कार्य द्वारा प्रकट करने की प्रेरणा देते हैं। ऐसे धार्मिक पुरुष यदि शासक वर्गों में हुए तो वे अपनी सुविधाजनक स्थिति का खयाल करके सत्य पर पर्दा न डालेंगे, बल्कि इसके विपरीत वे ऐसी सुविधाओं को घृणा की नजर से देखेंगे और उनसे छुटकारा पाने में और सत्य का प्रचार करने में अपनी सारी शक्ति खर्च कर देंगे। उनके आगे जीवन में एक ही लक्ष्य होता है और वह यह कि ईश्वर की सेवा कर। यदि ऐसे पुरुष पराधीन वर्गों में हुए तो वे अपनी श्रेणी के अन्य लोगों की भांति अपनी सांसारिक दशा सुधारने की चिन्ता न करेंगे। पाखण्ड का भण्डा फोड़ करना और सत्य का प्रचार करना और इस प्रकार परमात्मा

की इच्छा की पूर्ति करना ही उनका लक्ष्य होगा। जीवन में जिस लक्ष्य को उन्होंने अपनाया होगा, उससे वे हर्गिज विरत न होंगे, चाहे उन्हें कितना ही कष्ट-सहन क्यों न करना पड़े। दोनों प्रकार के लोगों का आचरण उतना ही स्वाभाविक होगा जितना कि उस सांसारिक मनुष्य का होता है जो धन कमाने के लिए परिश्रम करता है, फिर हर प्रकार के कष्ट उठाता है, अथवा कुछ प्राप्ति की आशा में किसी राजा की खुशामद करता है। प्रत्येक धर्म-परायण पुरुष का आचरण इसी प्रकार का होता है; क्योंकि जिसकी आत्मा धर्म के द्वारा पावन और निर्मल हो जाती है वह फिर दूसरे विषयासक्त स्त्री-पुरुषों की तरह सांसारिक और धर्म-हीन जीवन बिताना छोड़ देता है। वह तो ऐसा शाश्वत और अनन्त जीवन बिताने लगता है जिसमें भौतिक कष्टों और मृत्यु आदि का कोई महत्व नहीं होता। ये कष्ट उसके लिए वैसे ही महत्वहीन होते हैं जैसे कि हाथ की फुंसी अथवा हल चलाते समय किसान के अंगों की थकावट।

ये ही दरअसल वे लोग हैं जो जन-साधारण के चारों ओर फैले हुए इन्द्र-जाल को फाड़ फेंकेंगे। ये लोग संख्या में कितने ही थोड़े क्यों न हों, इनका सामाजिक दर्जा कितना ही निम्न क्यों न हो, इनकी शिक्षा और योग्यता अल्प ही क्यों न हो, सम्पूर्ण संसार में ये उतने ही निश्चय के साथ आग लगा देंगे जिस निश्चय के साथ आग सूखी घास को जला डालती है। ये लोग उन तमाम मनुष्यों के हृदयों को सत्य और धर्म की ज्योति से पुनः आलोकित कर देंगे जिनके हृदय धर्म के दीर्घकालीन अभाव के कारण कुम्हला गये हैं और जो नवजीवन के लिए उत्कण्ठित हैं।

एक विशिष्ट अवसर पर घटित होने वाली किसी अलौकिक घटना में सदा विश्वास करते रहने का नाम धर्म कदापि नहीं है। न किन्हीं खास तरह की प्रार्थना और रीति-रिवाजों को मानने की आवश्यकता में विश्वास रखना ही धर्म है। इसके अतिरिक्त धर्म वह पदार्थ भी नहीं है जिसके लिए वैज्ञानिक लोग अक्सर कहा करते हैं कि यह प्राचीन काल के अज्ञान और अन्ध विश्वासों का अवशिष्ट चिन्ह है और इसलिए अर्वाचीन युग में

मनुष्य-जीवन के लिए इसका कोई उपयोग या प्रयोजन नहीं है। वल्कि धर्म शाश्वत जीवन और परमात्मा के प्रति वांधा गया एक सम्वन्ध है। यह सम्वन्ध वुद्धि और आधुनिक ज्ञान-सामग्री के विलकुल अनुकूल है और यही एक ऐसा पदार्थ है जो मनुष्य-जाति को अपने निश्चित ध्येय की ओर निरंतर अग्रसर करता रहता है।

यहूदियों के अन्दर एक प्रसिद्ध लोकोक्ति प्रचलित है—"मनुष्य की आत्मा परमात्मा का दीपक है।" जवतक मनुष्य के अन्दर ईश्वर की ज्योति प्रकाशित नहीं होती, तवतक वह केवल एक दुर्वल और दयनीय प्राणी होता है। लेकिन जव वह ज्योति जगमगाने लगती है (और वह केवल धर्म से आलोकित आत्माओं के अन्दर ही जगमगाती है), तव मनुष्य संसार में सवसे शक्तिशाली प्राणी वन जाता है। इसके अलावा दूसरी कोई वात हो भी नहीं सकती, क्योंकि उसके अन्दर जो शक्ति कार्य करने लगती है, वह उसकी निज की शक्ति नहीं, वल्कि परमात्मा की शक्ति होती है।

वस, यही सव-कुछ धर्म है और इसी में धर्म का तत्व समाया हुआ है।

: २ :

धर्म और नैतिकता[1]

(१) धर्म शब्द से आप क्या समझते हैं ?

(२) धर्म का आप जो अर्थ करते हैं, उससे प्रथक् क्या कोई नैतिकता हो सकती है ?

मैं इन दोनों महत्वपूर्ण और ठीक ढंग से पूछे गये प्रश्नों का यथाशक्ति उत्तर दूंगा।

धर्म शब्द की आम तौर पर तीन भिन्न-भिन्न परिभाषाएं की जाती हैं।

पहली परिभाषा तो यह है कि धर्म परमात्मा की ओर से मनुष्य को एक खास और सच्चा मार्ग-दर्शन है। जो लोग प्रचलित धर्मों में से किसी धर्म को मानते हैं और जो फलस्वरूप अपने धर्म को ही एक सच्चा धर्म समझते हैं, वे धर्म का यही अर्थ करते हैं।

दूसरी परिभाषा यह है कि कुछ अन्धविश्वास-जनित मान्यताओं और उन मान्यताओं के अनुसार अन्धविश्वासमय पूजा-पाठों के संग्रह का नाम धर्म है। जो आम तौर पर धर्म में श्रद्धा नहीं रखते अथवा उस धर्म में श्रद्धा नहीं रखते जिसकी वे व्याख्या करते हैं, उनकी धर्म की यही परिभाषा होती है।

तीसरी परिभाषा यह है कि धर्म कुछ ऐसे विधिविधानों के संग्रह का नाम है जिनका बुद्धिमान लोगों ने आविष्कार किया है। इनकी आम लोगों को संतोष देने और उनके विकारों को संयम में रखने के लिए आवश्यकता होती है। इन्हीं के सहारे जनसाधारण को वश में रखा जा सकता है। धर्म

[1] जर्मनी की एक नैतिकता-प्रसारक संस्था के प्रश्नों का म. टालस्टाय द्वारा दिया गया उत्तर।

की यह परिभाषा वे लोग करते हैं, जिन्हें धर्म के रूप में उतनी चिन्ता नहीं होती, बल्कि जो धर्म को शासन-तंत्र के हाथों में एक उपयोगी अस्त्र समझते हैं।

पहली परिभाषा के अनुसार धर्म एक अचूक और निश्चित सत्य है, जिसका मानव-हित के लिए सभी सम्भव उपायों द्वारा प्रचार किया जाना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार धर्म अन्धविश्वासों का एक संग्रह है जिससे मानव-हित के लिए मनुष्य को सब सम्भव उपायों द्वारा मुक्त करना वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी है।

तीसरी परिभाषा के अनुसार धर्म एक उपयोगी अस्त्र है जो उच्च संस्कृतिवान पुरुषों के लिए आवश्यक नहीं है, बल्कि आम लोगों को वश में रखने और उन्हें सन्तोष देने के लिए आवश्यक है और इसलिए उसको कायम रखा जाना चाहिए।

पहली परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो यह कहता है कि संगीत एक विशेष प्रकार का स्वर है—ऐसा स्वर जो उसकी जानकारी में सर्वश्रेष्ठ है और जो उसे सबसे अधिक प्रिय है और इसलिए उसकी अधिक-से-अधिक लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए।

दूसरी परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो संगीत को नहीं समझता और इसलिए उसे नापसन्द करता है। वह यह कहेगा कि संगीत गले या मुंह की आवाज से अथवा अमुक वाद्य-साधनों को हाथों द्वारा इस्तेमाल करने से पैदा होता है और यह कि यह एक बेकार और हानिकारक कार्य है, जिससे जल्दी-से-जल्दी लोगों को विरत कर देना चाहिए।

तीसरी परिभाषा की तुलना हम उस व्यक्ति की परिभाषा से कर सकते हैं जो संगीत को नृत्य की शिक्षा और फौजी कवायद के लिए उपयोगी समझता है और यह मानता है कि इन कार्यों के लिए उसे कायम रखना चाहिए।

इन परिभाषाओं में जो विविधता और अपूर्णता है उसका कारण यह है कि संगीत के मुख्य गुण को नहीं समझा गया और परिभाषा करनेवाले के दृष्टिकोण के अनुसार केवल उसके कुछ रूपों की व्याख्या की गई है।

पहली परिभाषा के अनुसार धर्म एक ऐसी वस्तु है जिसमें परिभाषा करने वाला सही तौर पर श्रद्धा रखता है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार धर्म वह वस्तु है, जिसको परिभाषा करने वाले की दृष्टि से दूसरे लोग गलत तौर पर मानते हैं।

तीसरी परिभाषा के अनुसार धर्म वह वस्तु है, जिसको परिभाषा करने वाला दूसरों से मनवाना उपयोगी समझता है।

तीनों ही अवस्थाओं में धर्म के असली तत्व की व्याख्या नहीं की गई, बल्कि किसी ऐसी चीज की व्याख्या की गई है जिसको लोग मानते हैं और धर्म समझ बैठे हैं।

पहली परिभाषा परिभाषा करनेवाले की श्रद्धा को धर्म का स्थान प्रदान करती है, दूसरी परिभाषा दूसरे लोगों की श्रद्धा को धर्म बताती है और तीसरी परिभाषा लोगों की उस श्रद्धा को धर्म कहती है जिसका उन्हें धर्म के नाम पर विश्वास कराया जाता है।

किन्तु श्रद्धा है क्या? लोग अपनी श्रद्धा पर क्यों कायम रहते हैं? श्रद्धा क्या है और वह कैसे पैदा हुई है? आजकल के पढ़े-लिखे लोगों के झुण्ड में ज्यादातर लोग यह मान बैठे हैं कि प्रकृति के तत्वों को न समझने के कारण जो अन्धविश्वासमय भय पैदा होता है और प्रकृति की इन शक्तियों को देवताओं का रूप देकर उनकी जो पूजा की जाती है, वही प्रत्येक धर्म का मूल तत्व है।

आजकल के पढ़े-लिखे लोगों का झुण्ड बिना किसी आलोचना के इस परिभाषा को श्रद्धापूर्वक मान लेता है और वैज्ञानिक लोग इसका न केवल खण्डन ही नहीं करते, बल्कि वे इस परिभाषा के आमतौर पर कट्टर समर्थक पाये जाते हैं। मैक्समूलर या इसी प्रकार के और किसी व्यक्ति की, जो धर्म का भिन्न उद्गम और अर्थ बताते हैं, अगर यदा-कदा

आवाज सुनाई भी देती है तो धर्म को आमतौर पर अज्ञान और अन्ध-विश्वास का प्रदर्शन समझने वालों की इतनी प्रचुरता है कि वह आवाज सुनी-अनसुनी हो जाती है। यह बहुत पहले की बात नहीं है, बल्कि १९ वीं शताब्दी के शुरू की बात है। उस समय के मुखिया लोगों ने यद्यपि कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट और रूसी-यूनानी पुरातन धर्मो का खण्डन किया; किन्तु इस बात से कभी इन्कार नहीं किया कि धर्म आम तौर पर हरेक मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक अंग रहा है और है। हम इस सम्बन्ध में डीस्ट-वादियों का उल्लेख न भी करें तो भी वोलटेयर और रॉब्सपियरी के उदाहरण हमारे सामने हैं। इनमें से प्रथम ने ईश्वर का स्मारक खड़ा किया और दूसरे ने ईश्वर के नाम पर एक विराट उत्सव की योजना की थी। किन्तु, हमारे युग में आगस्ट कोम्टे की, जो अन्य अधिकांश फ्रांसीसियों की भांति कैथोलिकवाद को ही सम्पूर्ण ईसाइयत मानता था, बेहूदा और ऊपरी शिक्षाओं की कृपा से पढ़ी-लिखी जनता ने (जो निकृष्ट दृष्टिकोण अपनाने को हमेशा तत्पर और उत्सुक रहती है) यह निर्णय कर लिया और मान लिया है कि धर्म मानव-जाति के विकास का एक खास-गया-गुजरा पहलू है। इस को स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है कि मानव जाति धार्मिक और आध्यात्मिक दो अवस्थाओं में से होकर गुजर चुकी है—और उसने तीसरी अवस्था यानी वैज्ञानिक अवस्था में प्रवेश किया है और यह कि मनुष्यों में अब जो भी धर्म का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है वह मानव-जाति के आध्यात्मिक अंग का अवशेष मात्र है जो घोड़े के पंजे के पांचवें नाखून की भांति निरर्थक और बेकार हो चुका है।

यह मान लिया जाता है कि प्रकृति की अज्ञात शक्तियों से उत्पन्न भय, काल्पनिक देवताओं में विश्वास और उनकी पूजा में धर्म का तत्व निहित है। प्राचीनकाल में लोकतंत्रवादी ऐसा ही समझते थे और आधुनिक तत्ववेत्ता और धार्मिक इतिहासवेत्ता भी यही कहते हैं।

यह भी एक खयाल है कि अगोचर, अलौकिक हस्तियों अथवा ऐसी किसी एक हस्ती में श्रद्धा हमेशा ही प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय के कारण

पैदा नहीं होती, पुराने जमाने के सुकरात, डेस्कार्टेज, न्यूटन आदि और इस युग के सैकड़ों अत्यन्त प्रमुख और उच्च शिक्षित व्यक्तियों के उदाहरणों से हम इस वात की सत्यता अनुभव कर सकते हैं। ये लोग प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय से प्रेरित होकर किसी सर्वोच्च अलौकिक हस्ती में विश्वास न करते थे; किन्तु इस प्रमाण को एक ओर रख दिया जाय तो भी प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों के सम्वन्ध में मनुष्यों के अन्धविश्वासजनित भय ने धर्म को जन्म दिया है, इस कथन से मुख्य प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। मुख्य प्रश्न तो यह है कि मनुष्यों में वह ऐसी कौन-सी वात थी कि जिसके कारण उन्हें अगोचर, अलौकिक शक्तियों की कल्पना हुई ?

यदि मनुष्यों को वादलों की कड़क और विजली से भय लगा तो इसका कारण यह था कि वादलों की कड़क और विजली स्वयमेव भयोत्पादक चीजें हैं; किन्तु उन्हें इस वात की कोई आवश्यकता न थी कि वे किसी ऐसी अगोचर, अलौकिक हस्ती का आविष्कार करते जो कहीं-न-कहीं रहती हैं और यदा-कदा लोगों की तरफ तीर फेंकती रहती है।

मृत्यु का दृश्य देखकर मनुष्यों के दिल में मृत्यु से भय पैदा हो सकता है; किन्तु उन्हें मृतात्माओं की कल्पना करने की क्या आवश्यकता, जिनके साथ कि वे काल्पनिक सम्वन्ध स्थापित करते हैं ? विजली की कड़क से मनुष्य घरों में छिप सकता है। मृत्यु के भय से मनुष्य मृत्यु से भाग पाने के लिए प्रयत्न कर सकता है; किन्तु यदि मनुष्यों ने शाश्वत और सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की और यह समझा कि वही उनका आधार है, यदि मनुष्यों ने मृत लोगों की जीवित आत्माओं का आविष्कार किया तो उन्होंने यह सब केवल भय से प्रेरित होकर नहीं किया, वल्कि इसके अन्य कारण थे, स्पष्ट है कि उन कारणों में ही जिसे हम धर्म कहते हैं, इसका तत्व निहित है।

इसके अलावा प्रत्येक मनुष्य जिसने कभी भी, वचपन में भी धार्मिक भावना का अनुभव किया होगा, वह अपने खुद के अनुभव से यह जानता है कि उसके दिल में वह भावना किसी वाह्य आतंककारी भौतिक दृश्य के

कारण नहीं पैदा हुई, वल्कि वह एक ऐसी अनुभूति थी जिसका प्रकृति की अज्ञात शक्तियों के भय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह अनुभूति थी उसकी अपनी क्षुद्रता की, एकाकीपन की और अपराधों की और इसलिए मनुष्य वाह्य अवलोकन और व्यक्तिगत अनुभव दोनों के ही द्वारा यह जान सकता है कि धर्म देवताओं की उस पूजा का नाम नहीं है जो कृति की अज्ञात शक्तियों के मिथ्या भय से प्रेरित होकर की जाती है। मनुष्यों के विकास की एक खास अवस्था में ही यह सम्भव होता है। धर्म तो भय और लोगों की शिक्षा की मात्रा दोनों से पृथक वस्तु है—ऐसी वस्तु है जो संस्कृति का चाहे जितना विकास क्यों न हो जाय, नष्ट नहीं हो सकती। कारण जबतक मनुष्य मनुष्य रहेगा, उसको हमेशा यह भान रहा है और रहेगा कि इस अनन्त विश्व में वह एक सीमित प्राणी है और उसने वह सव कार्य नहीं किये जो उसे करने थे और जिनको वह कर सकता था।

वस्तुतः जव मनुष्य वचपन की पशु-स्थिति और आरम्भिक वाल्य-काल की अवस्था को पार कर लेता है, उस अवस्था को पार कर लेता है, जव कि वह शारीरिक आवश्यकताओं से ही प्रेरित होता है अर्थात् वह वौद्धिक रूप से जागृत होता है तो वह अपने चारों ओर यह देखे विना नहीं रह सकता कि सारी सृष्टि कायम है, नवीन रूप धारण करती रहती है, नष्ट नहीं होती और एक निश्चित शाश्वत नियम के अधीन होकर काम करती है। वह अपने-आप को शेष संसार से पृथक समझता है और अनुभव करता है कि केवल उसे ही मृत्यु का ग्रास वनना है, अनन्त स्थल और काल में विलीन हो जाना है। उसे यह कष्टजनक विचार सताता है कि उसे अपने कार्यों का फल भुगतना पड़ेगा अर्थात् वह यह सोचता है कि वुरे कामों के वजाय में अच्छे कामं कर सकता था। यह समझने के वाद कोई भी समझदार आदमी अपने-आप से यह प्रश्न पूछे विना नहीं रह सकता—"इस अनन्त, सुनिश्चित और असीम विश्व में मेरे इस क्षणिक, अनिश्चित और अस्थायी अस्तित्व का क्या अर्थ है?" वास्तविक मानव-जीवन में प्रवेश करने के वाद मनुष्य इस प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकता।

प्रत्येक मनुष्य के सामने यह प्रश्न पैदा होता है और प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी रूप में उसको हल करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रश्न के उत्तर में प्रत्येक धर्म का तत्व निहित है। "मैं क्यों जीवित हूं और मेरे चारों ओर फैले हुए असीम विश्व[1] के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है?" केवल इसी एक प्रश्न के उत्तर में धर्म का तत्व समाया हुआ है।

तमाम धर्मशास्त्र, देवी-देवताओं और सृष्टि की उत्पत्ति-सम्बन्धी तमाम सिद्धान्त और पूजा-अर्चना के तमाम बाह्य प्रकार—जिनको बहुधा धर्म ही समझा जाता है—(भौगोलिक, लौकिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण भिन्न होते हुए भी) धर्म के अस्तित्व के सूचक हैं। आपको उच्च-से-उच्च और भद्दे-से-भद्दा कोई धर्म ऐसा न मिलेगा जो मनुष्य का इस विश्व के साथ अथवा ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित न करता हो। प्रत्येक भद्दी-से-भद्दी धार्मिक विधि और प्रत्येक उन्नत-से-उन्नत धार्मिक सिद्धांत की जड़ में यह बात अवश्य मिलती है। प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक ने मनुष्य का विश्व और विश्व-नियन्ता के साथ जो सम्बन्ध निर्धारित किया, वही उस धर्म की शिक्षाओं में व्यक्त हुआ है।

मनुष्य और ईश्वर के ये सम्बन्ध भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट हुए हैं। उनका स्वरूप धर्म-प्रवर्तकों और उनके धर्मानुयायियों के वंश और इतिहास के अनुसार बना है। इसके अलावा धर्म-प्रवर्तक तो जनसाधारण की अपेक्षा सैकड़ों और कभी-कभी हजारों वर्ष आगे की बात सोचने में समर्थ थे; किन्तु उनके अनुयायियों ने उनकी शिक्षाओं की विविध परिभाषाएं कीं और गलत अर्थ भी कर डाला। इस प्रकार मनुष्य का विश्व के साथ अर्थात् धर्म के साथ विविध प्रकार का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है, हालांकि मनुष्य और विश्व तथा विश्व-नियन्ता के बीच तीन प्रकार के मौलिक सम्बन्ध हैं,

[1] विश्व शब्द यहां और अन्यत्र उसके मौलिक अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और उसमें आध्यात्मिक और भौतिक तमाम विद्यमान वस्तुओं का समावेश हो जाता है।

पहला प्रारम्भिक व्यक्तिगत सम्वन्ध है, दूसरा, सामाजिक अथवा कुटुम्ब और राष्ट्रगत सम्वन्ध है और तीसरा धार्मिक अथवा दैवी सम्वन्ध है।

सच पूछा जाय तो इस विश्व के साथ मनुष्य के दो ही सम्वन्ध हो सकते हैं—एक तो व्यक्तिगत और दूसरा धार्मिक। पहले सम्वन्ध को माननेवाला व्यक्तिगत हित-साधन को ही जीवन का उद्देश्य समझता है और उसे व्यक्तिगत रूप से अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर सिद्ध करता है। दूसरे सम्वन्ध को माननेवाला जिस परमात्मा ने मनुष्य को इस संसार में भेजा है, उसकी सेवा करना अपने जीवन का लक्ष्य समझता है। पहले विभाजन में जिन तीन सम्वन्धों का उल्लेख किया गया है उनमें से दूसरे सम्वन्ध अर्थात सामाजिक सम्वन्ध को पहले सम्वन्ध का ही विस्तार समझना चाहिए।

पहली कल्पना सवसे प्राचीन कल्पना है। यह उन लोगों में अव भी प्रचलित है जिनका नैतिक विकास कम-से-कम हो पाया है। इसके अनुसार मनुष्य अपने हित का विचार करके ही काम करता है; वह इस दुनिया में अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इस वात की परवाह नहीं करता कि ऐसा करते हुए वह दूसरों को कितना दुःख या पीड़ा पहुंचाता है।

विश्व के प्रति मनुष्य के सम्वन्ध की यह अति प्राचीन कल्पना है। हरेक शिशु जव इस दुनिया में जन्म लेता है तो उसकी यही कल्पना होती है। मानव-जाति की अपने विकास की प्रथम अवस्था में यही कल्पना रही है और आज भी अनेक व्यक्ति, जिनका नैतिक मापदण्ड सूक्ष्म नहीं है और जंगली जातियां इसी कल्पना का अनुसरण करती हैं। इसी कल्पना से अल्प विकसित धर्मों का उदय हुआ और उनके वाद जो धर्म पैदा हुए अर्थात् वुद्ध धर्म,[1] ताओ धर्म और इस्लाम धर्म के निकृष्ट और विकृत रूपों का

---

[1] वुद्ध धर्म अपने अनुयायियों को सांसारिक सुखों और जीवन तक को त्याग देने का उपदेश देता है, किन्तु पूर्व निश्चित व्यक्तिगत कल्याण

उद्गम भी इसी कल्पना द्वारा हुआ है। आधुनिक अध्यात्मवाद भी इसी कल्पना का फल है-जिसके मूल में व्यक्तित्व की रक्षा और कल्याण की भावना काम करती है। जितने भी अल्पविकसित धर्म हैं, अज्ञात की खोज के अलौकिक साधन हैं, उनमें मनुष्य की भांति सुखोपभोग करनेवाले प्राणी देवता माने गये हैं, मनुष्य और परमात्मा के बीच मध्यस्थता करने वाले सन्त हैं, मनुष्य के पार्थिव कल्याण के लिए और संकटों से छुटकारा पाने के लिए जितने यज्ञ होते हैं और प्रार्थनाए की जाती हैं, उन सबका मूल जीवन-विषयक यही कल्पना है।

दुनिया के प्रति मनुष्य के इहलौकिक सम्बन्ध का दूसरा रूप सामाजिक है, जिसे वह अपने विकास की दूसरी सीढ़ी पर अपनाता है। यह सम्बन्ध मुख्यतः वयस्क लोगों के लिए स्वाभाविक होता है। इसमें मनुष्य व्यक्तिगत हित-साधन को नहीं, बल्कि व्यक्ति-समूहों के हित-साधन को जीवन का लक्ष्य समझता है। व्यक्ति-समूहों में परिवार, वंश, जाति, साम्राज्य अथवा समस्त मानव-जाति तक का समावेश हो जाता है।

इस कल्पना के अनुसार जीवन का लक्ष्य व्यक्ति की परिधि से हटकर परिवार, वंश, राष्ट्र अथवा साम्राज्य तक फैल जाता है—व्यक्तियों के अमुक संगठन उसके दायरे में आ जाते हैं और उनकी भलाई जीवन का लक्ष्य समझ लिया जाता है। अमुक प्रकार के सब धर्म अर्थात् खानदानी और सामाजिक धर्म, चीनी और जापानी धर्म, ईश्वर के प्यारों अर्थात् यहूदियों के धर्म, रोम का राष्ट्र-धर्म, गिर्जा और राष्ट्र धर्म (जिसे गलती से ईसाई धर्म कहा जाता है) और प्रस्तावित निश्चयात्मक मानव-धर्म—इन सबका इसी कल्पना से उद्भव हुआ है।

को ही वह अपना आधार मानता है। अन्तर केवल इतना है कि जहां अन्य मूर्तिपूजक धर्म सुख प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार मानते हैं, वहां बुद्ध धर्म यह मानता है कि यह दुनिया लुप्त हो जानी चाहिए, क्योंकि वह प्राणियों के लिए दुःख की सामग्री उपस्थित करती है। बुद्ध धर्म नकारात्मक अल्पविकसित धर्म है।

चीन और ज़ापान में पूर्वजों की पूजा के समस्त समारोह, रोम में सम्राटों की पूजा, यहूदियों के असंख्य समारोह, जिनका उद्देश्य ईश्वर और उनके प्यारों के बीच अमुक समझौता कायम रखना है, राष्ट्र की भलाई के लिए या युद्ध में विजय मिलने के लिए की जाने वाली गिर्जों की प्रार्थनायें और कौटुम्बिक और सामाजिक प्रार्थनायें—इन सब का आधार वही कल्पना है जो मनुष्य और विश्व के सम्बन्धों के विषय में की गई है।

इस सम्वन्ध के वारे में तीसरी कल्पना ईसाई अर्थात शुद्ध धार्मिक कल्पना है। तमाम वृद्ध व्यक्तियों को इसका अनजाने भान है और मेरी राय में जिसको अब मानवता अपनाने लगी है। इस कल्पना के अनुसार जीवन का उद्देश्य व्यक्तिगत उद्देश्यों अथवा व्यक्तियों के अमुक संगठन के उद्दश्यों की पूर्ति नहीं हो सकता। उसके अनुसार जीवन का उद्देश्य उस परम पिता परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने मनुष्य को और इस समस्त विश्व को मनुष्य के उद्देश्यों के लिए नहीं, वल्कि अपने ही उद्देश्यों के लिए पैदा किया है।

इस कल्पना से ही दुनिया की उस श्रेष्ठतम धार्मिक शिक्षा का जन्म हुआ है जिसके वीज यूनानियों, मिश्रियों, पर्शियनों, ब्राह्मणों, वौद्धों और ताओ-धर्मियों के श्रेष्ठ पुरुषों में विद्यमान थे; किन्तु जिनकी पूर्ण और अन्तिम अभिव्यक्ति सिर्फ ईसाई धर्म के शुद्ध और निर्विकार रूप में हुई है। जीवन की इस कल्पना को लेकर जो प्राचीन धर्म पैदा हुए, उनके तमान कर्मकाण्डों और इस युग के कुछ समूहों के पूजा-पाठ के वाह्य प्रकारों में हमको मनुष्य और विश्व के सम्वन्धों की उसी कल्पना का धार्मिक प्रदर्शन दिखाई देता है।

जितने भी प्रकार के धर्म हो सकते हैं, उन सवको संसार-विषयक उक्त तीन कल्पनाओं में से किसी एक में विभाजित किया जा सकता है।

प्रत्येक मनुष्य जो पशु-अवस्था को पार कर चुकता है, अनिवार्यतः पहली, दूसरी या तीसरी कल्पना को अपनाता है और चाहे वह नाम के लिए किसी धर्म को मानता हो, वही उसका वास्तविक धर्म वन जाता है।

प्रत्येक मनुष्य इस तरह की कोई-न-कोई कल्पना अवश्य करता है कि उसके और इस विश्व के बीच क्या सम्बन्ध है, क्योंकि कोई भी समझदार प्राणी जिस विश्व में वह रहता है, उसके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध रखे बिना जी नहीं सकता। और चूंकि मनुष्य ने अभी तक हमारी जानकारी में तीन प्रकार के सम्बन्धों का ही आविष्कार किया है, इसलिए यह नतीजा निकला कि हरेक मनुष्य तीनों में से किसी एक सम्बन्ध को मानता है और वह चाहे या न चाहे, वह उन तीन मूलभूत धर्मों में से एक के साथ सम्बद्ध है, जिसमें कि मानव-जाति बंटी हुई है।

इसलिए ईसाई धर्म को माननेवाले पढ़े-लिखे लोगों में जो यह बात आम तौर पर कही जाती है कि वे विकास की उस सीढ़ी पर पहुंच चुके हैं, जहां उन्हें किसी धर्म की आवश्यकता नहीं रह गई है या उनका कोई धर्म नहीं रह गया है, उसका सिर्फ यही अर्थ निकलता है कि वे ईसाई धर्म का तो खण्डन करते हैं, जो हमारे युग के लिए एकमात्र स्वाभाविक धर्म है, और अनजाने निम्न श्रेणी के सामाजिक, कौटुम्बिक, राष्ट्रगत अथवा प्रारम्भिक अल्पविकसित धर्म को मानते हैं। धर्म के बिना मनुष्य का होना अर्थात् विश्व के साथ मनुष्य का कोई सम्बन्ध न होना उतना ही असम्भव है जितना कि हृदय के बिना मनुष्य का होना। यह हो सकता है कि मनुष्य को यह पता न हो कि उसका अपना कोई धर्म है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसी मनुष्य को यह पता न हो कि उसके हृदय है; किन्तु जिस प्रकार वह हृदय के बिना नहीं जी सकता, उसी प्रकार वह धर्म के बिना भी नहीं जी सकता।

धर्म एक प्रकार का वह सम्बन्ध है जिसको मनुष्य अपने चारों ओर फैले हुए असीम विश्व के अथवा उसके स्रोत और मूल कारण के प्रति स्वीकार करता है, और विवेकवान व्यक्ति को उनके प्रति कुछ-न-कुछ सम्बन्ध रखना ही पड़ता है।

किन्तु शायद आप कहेंगे कि विश्व के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध की व्याख्या करना धर्म का काम नहीं है। यह तो दर्शनशास्त्र (यदि उसका

समावेश विज्ञान में किया जाय तो) अथवा सामान्य विज्ञान का काम है; किन्तु मेरा यह खयाल नहीं है। इसके विपरीत, मेरा तो खयाल है कि यदि हम विज्ञान का व्यापक अर्थ करें और उसमें दर्शनशास्त्र को भी शामिल कर लें तो भी वह विश्व के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं कर सकता। हमारे समाज के पढ़े-लिखे लोगों में धर्म, विज्ञान और नैतिकता के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति फैली हुई है, उसका मुख्य कारण यही विचार है।

विज्ञान, जिसमें हम दर्शन-शास्त्र को भी शामिल कर लेते हैं, विश्व अथवा उसके मूल कारण के प्रति मनुष्य के सम्बन्ध को निर्धारित नहीं कर सकता इसका एक बड़ा सबूत यह है कि दर्शन-शास्त्र और विज्ञान का जन्म होने के पहले भी उस वस्तु का अस्तित्व अवश्य रहा होगा, जिसके बिना कोई विचार-प्रवृत्ति और मनुष्य एवं विश्व के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

जिस प्रकार मनुष्य किसी भी प्रकार की गति के द्वारा यह मालूम नहीं कर सकता कि उसको किस दिशा में जाना चाहिये, हालांकि उसकी प्रत्येक हलचल अनिवार्यतः किसी-न-किसी दिशा में प्रवाहित होती है, उसी प्रकार दर्शन-शास्त्र और विज्ञान के क्षेत्र में चाहे जितना सोच-विचार किया जाय तो भी यह नहीं मालूम किया जा सकता कि इस प्रकार के प्रयत्न किस दिशा में किये जाने चाहिएं। किन्तु सब प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न एक खास दिशा में किये जाते हैं जो पहले से निश्चित हो चुकी होती है और वह धर्म ही है जो हमेशा सब प्रकार के बौद्धिक कार्यों की दिशा सूचित करता है। प्लेटो से लगा कर शोपनहार तक सब तत्ववेत्ताओं ने हमेशा और अनिवार्यतः धर्म द्वारा सूचित दिशा का अनुसरण किया है। प्लेटो और उसके अनुयायियों का दर्शन-शास्त्र अल्पविकसित दर्शन-शास्त्र है, जिसमें अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अधिक-से-अधिक कल्याण प्राप्त करने के साधनों और एक राष्ट्र की सीमा में व्यक्तियों के सहयोग पर विचार किया गया है। मध्ययुग के गिर्जा-सम्मत ईसाई दर्शनशास्त्र ने भी व्यक्तियों के लिए मुक्ति प्राप्त करने के साधनों की खोज की अर्थात् इस बात का पता लगाया

कि भावी जीवन में सबसे अधिक व्यक्तिगत कल्याण किस प्रकार प्राप्त किया जाय। यदि उसने समाज की भलाई का विचार किया तो केवल उस समय जब उसने अपने विचारों के अनुसार राज्य-संगठन को चलाने के प्रयत्न किये। इस दर्शन-शास्त्र का जन्म भी जीवन-सम्बन्धी उसी अविकसित कल्पना से हुआ।

हेगल और कोमटे दोनों के आधुनिक दर्शनशास्त्र की जड़ जीवन की राष्ट्रवादी सामाजिक-धार्मिक कल्पना है। शोपनहार और हार्टमेन के निराशावादी दर्शनशास्त्र ने यहूदियों की सृष्टि-विषयक कल्पना से छुटकारा पाने के लिए अनजाने बुद्ध-धर्म के धार्मिक आधार को स्वीकार किया।

धर्म मनुष्य और विश्व के बीच जो सम्बन्ध स्थापित करता है, उसके फलस्वरूप जो परिणाम पैदा होते हैं, उनकी खोज करना ही हमेशा दर्शन-शास्त्र का काम रहा है और आगे भी रहेगा। कारण जबतक वह सम्बन्ध निर्धारित नहीं हो जाता, तबतक दर्शनशास्त्र के विचार के लिए कोई आधार ही पैदा नहीं होता।

विज्ञान भी हरेक वस्तु का अध्ययन नहीं करता जैसा कि आजकल वैज्ञानिक लोग मूर्खतापूर्वक समझते हैं। कारण, ऐसा किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसे असंख्य पदार्थ हैं, जिनका अध्ययन किया जा सकता है। जिन असंख्य पदार्थों, रूपों और अवस्थाओं का अध्यय करना है, उनका हरेक के महत्व के अनुसार धर्म एक क्रम निर्धारित करता है और उस क्रम के अनुसार ही विज्ञान का परीक्षण-कार्य हमेशा चला है और आगे भी चलेगा, और इसलिए विज्ञान एक और अविभक्त नहीं है। जितने प्रकार के धर्म हैं, उतने ही प्रकार के विज्ञान हैं। प्रत्येक धर्म खोज के लिए पदार्थों की एक सरणि-विशेष का चुनाव करता है और इसलिए हरेक विभिन्न समय लोगों के विज्ञान पर उस धर्म का चिह्न अंकित होता है जिस धर्म के दृष्टि-बिन्दु से वह पदार्थों को देखता है।

इस प्रकार अल्पविकसित विज्ञान ने, जिसकी पुनरुत्थान काल में पुनर्स्थापना हुई, और जो अब हमारे समाज में ईसाई नाम से प्रचलित है,

हमेशा उन परिस्थितियों और अवस्थाओं की खोज की है और कर रहा है, जिनके द्वारा मनुष्य का अधिक-से-अधिक हित-सिद्ध हो सकता है। ब्राह्मण और बुद्ध दर्शन-विज्ञान ने हमेशा केवल उन परिस्थितियों की खोज की जिनके अधीन मनुष्य को उन कष्टों से छुटकारा मिल सकता है, जिनसे वह संतप्त रहता है। यहूदी-विज्ञान ने हमेशा उन शर्तों का अध्ययन और विवेचन किया, जिनका मनुष्य को परमात्मा के साथ अपने इकरार की पूर्ति के लिए पालन करना पड़ता है। उसका यह भी लक्ष्य था कि ईश्वर के प्यारे पुत्र अपना श्रेष्ठ धंधा करते रहें। गिर्जा-संमत ईसाई-विज्ञान ने उन परिस्थितियों की खोज की है और कर रहा है, जिनके अनुसार मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। सच्चा ईसाई विज्ञान, जिसका अभी-अभी जन्म हो रहा है, उन बातों की खोज कर रहा है जिनके द्वारा मनुष्य अपने परमपिता परमात्मा के आदेशों का पता लगा सके और यह जान सके कि उन आदेशों पर जीवन में किस प्रकार अमल किया जाय।

न तो दर्शन-शास्त्र और न ही विज्ञान विश्व के साथ मनुष्य का सम्बन्ध निर्धारित कर सकता है, कारण दर्शन-शास्त्र अथवा विज्ञान के जन्म लेने से पहले ही यह सम्बन्ध निर्धारित हो जाता है। दर्शनशास्त्र और विज्ञान यह कार्य इसलिए भी नहीं कर सकते कि वे खोज करनेवाले की स्थिति अथवा उसकी भावनाओं की परिधि से अलग केवल बुद्धि द्वारा अपना खोज-कार्य करते हैं। किन्तु विश्व के साथ मनुष्य का सम्बन्ध केवल बुद्धि द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता, बल्कि मनुष्य की भावना और उसकी आध्यात्मिक शक्तियों के सम्पूर्ण संयोग से यह कार्य होता है। आप किसी आदमी को चाहे जितना आश्वासन दीजिये, उसे चाहे जितना समझाइये कि जो-कुछ अस्तित्व में है, वह केवल विचार द्वारा है, अथवा यह कि प्रत्येक वस्तु, परमाणुओं से बनी है, अथवा यह कि तत्व या इच्छा ही जीवन का मूल है अथवा यह कि गर्मी, रोशनी, गति और विद्युत एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रदर्शन हैं, किन्तु जो मनुष्य अनुभव करता है, कष्ट भोगता है, प्रसन्न होता है, भय खाता और आशायें बांधता है, उसको इन सब बातों से यह समझ

में नहीं आ सकता कि उसका इस विश्व में क्या स्थान है ?

धर्म ही उसको यह स्थान बताता है और फलतः यह बताता है कि इस विश्व के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? धर्म उसको कहता है कि—"दुनिया का अस्तित्व ही तुम्हारे लिए है, इसलिए जीवन से जितना आनन्द उठाया जा सके, उठा लो।" अथवा—"तुम ईश्वर की प्यारी जाति के पुत्र हो, इसलिए उस जाति की सेवा करो, ईश्वर ने जो-कुछ आदेश दिया है, उसका पालन करो, तुम्हारा और जाति का अधिक-से-अधिक कल्याण होगा।" अथवा—"तुम सर्वशक्तिमान के हाथ के अस्त्र हो; जिसने तुम्हें इस दुनिया में एक निश्चित कार्य करने के लिए भेजा है; उसकी इच्छा मालूम करो और उसको पूरा करो और तुम अपना सर्वोत्तम कर्तव्य पूरा करोगे।"

दर्शन शास्त्र और विज्ञान के कथनोपकथनों को समझने के लिए तैयारी और अध्ययन आवश्यक होते हैं, किन्तु धर्म को समझने के लिए उनकी आवश्यकता नहीं होती; हरेक आदमी, यहां तक कि अत्यन्त मर्यादित और अज्ञ आदमी भी उसे समझ सकता है।

मनुष्य का इस जगत और उसके मूल कारण के साथ क्या संबंध है, यह जानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसको दर्शनशास्त्र अथवा विज्ञान का ज्ञान हो, (मनुष्य के अन्तःकरण पर ज्ञान का बाहुल्य बोझ बनकर बाधक बन जाता है)। यदि कुछ आवश्यक है तो सिर्फ यही कि कुछ क्षण के लिए ही सही, वह दुनिया की झंझटों को त्याग दे, उसे अपनी पार्थिव नगण्यता का भान हो जाय और वह सच्चाई को अपने हृदय में स्थान दे दे। जैसा कि धर्मशास्त्रों में कहा गया है, यह गुण बच्चों में और सीधे-सादे, बिना पढ़े-लिखे लोगों में प्रायः देखे जाते हैं। यही कारण है कि हम प्रायः देखते हैं कि जो अत्यन्त सीधे-सादे कम-से-कम विद्वान और पढ़े-लिखे लोग होते हैं, बड़ी स्पष्टता, समझ और सरलता के साथ जीवन के सर्वश्रेष्ठ धार्मिक लक्ष्य को ग्रहण कर लेते हैं और अत्यन्त विद्वान और 'सुसंस्कृत' व्यक्ति कुरूप और निम्न श्रेणी के धार्मिक विचारों के चक्कर में फंसे रहते हैं। उदाहरण के लिए आपको ऐसे लोग मिलेंगे जो अत्यन्त सुसंस्कृत और सुशिक्षित

होंगे। उनके समीप जीवन का लक्ष्य यही होता है कि व्यक्तिशः आनन्दोपभोग करें अथवा दुःखों से दूर रहें। महाविद्वान और उच्च शिक्षा प्राप्त शोपनहार यही मानता था और अच्छे पढ़े-लिखे पादरी भी यही मानते आये हैं कि धार्मिक कर्मकाण्ड अथवा प्रभु की कृपा से आत्मा को मुक्ति मिल सकती है। इसके विपरीत आपको विलकुल वेपढ़ा-लिखा देहाती किसान मिल जायगा—जो विना किसी वौद्धिक प्रयत्न के जीवन का वही लक्ष्य समझ लेगा जैसा कि दुनिया के वड़े-वड़े सन्तों ने समझा था—अर्थात् यह कि वह परमात्मा का पुत्र है और उसकी इच्छा के अनुसार काम करने वाला एक अस्त्र है।

किन्तु आप पूछेंगे, इस अ-दार्शनिक, अवैज्ञानिक ज्ञान का सार क्या है? यदि वह न तो दार्शनिक है और न ही वैज्ञानिक, तो आखिर वह है क्या? उसकी व्याख्या कैसे की जाय? इन प्रश्नों का मैं यही उत्तर दे सकता हूं कि चूंकि धार्मिक ज्ञान वह ज्ञान है जिसपर अन्य सव ज्ञान आश्रित होते हैं, और चूंकि इस ज्ञान का जन्म सवसे पहले होता है, इसलिए हम उसकी व्याख्या नहीं कर सकते, क्योंकि वैसा करने के लिए हमारे पास साधन ही नहीं हैं। धर्मशास्त्रों की भाषा में इस ज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं और यदि हम 'ईश्वरीय ज्ञान' शब्द का कोई रहस्यवादी अर्थ न करें तो यह शब्द विलकुल यथार्थ शब्द प्रतीत होता है। कारण, यह ज्ञान न तो अध्ययन द्वारा प्राप्त होता है और न एक अथवा अनेक व्यक्तियों के प्रयत्नों से प्राप्त होता है। यह तो केवल उसी व्यक्ति या उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होता है जो उस अनन्त ज्ञान के प्रदर्शन को स्वीकार करते हैं जो धीरे-धीरे मानव-जाति पर प्रकट हो रहा है।

क्या कारण था कि आज से दस हजार वर्ष पहले लोग यह समझने में असमर्थ थे कि जीवन का लक्ष्य अपनी खुद की भलाई तक ही सीमित नहीं हो सकता? इसके वाद ऐसा समय क्यों आया, जव लोगों को जीवन का उच्चतर लक्ष्य ज्ञात हुआ अर्थात् उनमें कौटुम्बिक, सामाजिक, जातीय और राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई? और यह तो इतिहास-काल की वात है जव

लोगों को जीवन की ईसाई कल्पना का ज्ञान हुआ। इस व्यक्ति को अथवा अमुक लोगों को ही उसका ज्ञान क्यों हुआ, अमुक समय और अमुक रूप में ही वह ज्ञान क्यों हुआ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए यदि हम जीवन के इस दृष्टिकोण को अपनाने और उसे सर्वप्रथम व्यक्त करनेवाले लोगों के उस काल की ऐतिहासिक परिस्थितियों, उनके जीवन और चरित्र तथा विशेष गुणों की विवेचना करने की कोशिश करेंगे तो यह ठीक वैसा ही होगा जैसा कि यदि हमसे कोई पूछे कि उदीयमान सूर्य अन्य वस्तुओं पर प्रकाश डालने के पहले अमुक वस्तुओं पर ही पहले क्यों प्रकाश डालता है और हम उसका उत्तर देने का प्रयत्न करें। सत्य-रूपी सूर्य ज्यों-ज्यों आकाश में आगे वढ़ता है, त्यों-त्यों वह दुनिया को अधिकाधिक प्रकाशित करता जाता है; उसका प्रतिविम्ब पहले उन्हीं पदार्थों पर पड़ता है जिन-पर उसकी प्रकाश-किरणें पहले पड़ती हैं और जो उसके प्रकाश को ग्रहण करने के लिए सवसे अधिक उपयुक्त होते हैं। किन्तु जो गुण कुछ व्यक्तियों को उदीयमान सत्य को ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करते हैं, वे वुद्धि के खास, सक्रिय गुण नहीं होते; इसके विपरीत वे तो हृदय के निष्क्रिय गुण हुआ करते हैं, जो तीक्ष्ण वुद्धि वाले व्यक्तियों में कदाचित ही देखे जाते हैं। दुनिया की झंझटों से छुटकारा पाना, अपनी भौतिक नगण्यता का भान होना और दर्पण के समान ईमानदारी का होना—यही वे गुण हैं जो हमको सभी धर्म-प्रवर्तकों के जीवन में देखने को मिलते हैं। इन धर्म-प्रवर्तकों में न तो असाधारण दार्शनिक प्रतिभा थी और न असाधारण वैज्ञानिक प्रतिभा ही।

मेरी राय में ईसाई समाज की वास्तविक प्रगति के मार्ग में मुख्य वाधा यह है कि वैज्ञानिकों ने हजरत मूसा का पद ग्रहण कर लिया है। इन वैज्ञानिकों ने पुनरुत्थान काल में पुनः प्रतिपादित जीवन के अल्पविकसित दृष्टिकोण को अपनाया हुआ है, जो वस्तुतः ईसाई धर्म का विकृत रूप है। उन्होंने यह निर्णय कर लिया है कि मानव-समाज ईसाई धर्म से आगे वढ़ चुका है और जीवन के जिस प्राचीन, अल्पविकसित

राष्ट्रगत सामाजिक दृष्टिकोण को उन्होंने अपना रखा है, वही जीवन का सर्वोत्तम ज्ञान है और उसी पर मानव-समाज को दृढ़तापूर्वक डटे रहना चाहिए। इस प्रकार के विचारों के कारण ही वे न केवल ईसाई धर्म को नहीं समझ पाते, वल्कि उसको समझने की कोशिश भी नहीं करते। किंतु वास्तव में यही जीवन का सर्वोच्च दृष्टिकोण है जिसकी ओर मानव-समाज अग्रसर हो रहा है।

इस गलतफहमी का मुख्य कारण यह है कि वैज्ञानिक ईसाई धर्म से अलग जा पड़े हैं और यह मानने लगे हैं कि उनके विज्ञान का उसके साथ मेल नहीं वैठता। वे अपने विज्ञान का दोप नहीं मानते, प्रत्युत ईसाई धर्म में दोप निकालते हैं। दूसरे शब्दों में वे यह मानते हैं कि ईसाई धर्म विज्ञान से १८०० वर्ष पीछे पड़ गया है, हालांकि वस्तुस्थिति यह है कि उनका विज्ञान, जो आधुनिक समाज के एक वड़े भाग को प्रभावित कर रहा है, ईसाई धर्म से १८०० वर्ष पीछे है।

वस्तुस्थिति के इस उलट-फेर का यह आश्चर्यजनक परिणाम निकला है कि धर्म, नैतिकता अथवा जीवन के सारतत्व और वास्तविक महत्व के संवंध में जितनी भ्रांति वैज्ञानिकों में फैली हुई है उतनी अन्य किन्हीं लोगों में नहीं पाई जाती। फिर भी आश्चर्य की वात यह है कि जिस आधुनिक विज्ञान ने भौतिक सृष्टि के तत्वों के अन्वेषण में महान सफलता प्राप्त की है, वह मानव-जीवन का पथ-प्रदर्शन करने में निष्फल सिद्ध हो रहा है। यही नहीं, वल्कि उसको हानि भी पहुंचा रहा है।

इसीलिए मेरी राय में न तो दर्शन और न विज्ञान विश्व के प्रति मनुष्य के संवंध को निर्धारित करता है; वल्कि धर्म ही सदा यह कार्य करता है।

अतः आपके इस प्रश्न का कि मैं धर्म शब्द का क्या अर्थ समझता हूं, मेरा उत्तर यह है : धर्म वह संवंध है जो मनुष्य अपने और इस असीम और अनन्त विश्व अथवा विश्वपति, और जगत के आदि कारण के वीच स्थापित करता है।

पहले प्रश्न के उत्तर में से स्वभावतः दूसरे प्रश्न का उत्तर निकल आता है।

यदि धर्म वह संबंध है जो मनुष्य अपने और विश्व के बीच स्थापित करता है—जो जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है तो हम उस मानव-प्रवृत्ति को नैतिकता का सूचक और स्पष्टीकरण कह सकते हैं, जो मनुष्य द्वारा विश्व के प्रति अमुक संबंध रखने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। यदि हम अल्पविकसित, सामाजिक संबंध को व्यक्तिगत संबंध का विकसित रूप मान लें तो दो प्रकार के मौलिक संबंधों और यदि हम सामाजिक संबंध को पृथक् समझें तो तीन प्रकार के संबंधों का अस्तित्व पाया जाता है। इससे यह नतीजा निकलता है कि नैतिकता-संबंधी तीन प्रकार की शिक्षाओं का अस्तित्व है—(१) प्रारम्भिक, जंगली-व्यक्तिगत (२) अल्पविकसित, कौटम्बिक, राष्ट्रगत अथवा सामाजिक और (३) धार्मिक अथवा दैवी शिक्षा अर्थात् मानस-सेवा या प्रभु-सेवा की शिक्षा।

विश्व के प्रति मनुष्य के प्रथम प्रकार के संबंध से नैतिकता की उस शिक्षा का जन्म होता है जो उन सब अल्पविकसित धर्मों में सामान्य रूप से पाई जाती है जिनके मूल में व्यक्तिगत कल्याण सिद्ध करने की भावना कार्य करती है। इसलिए इन धर्मों में यह बताया जाता है कि किन परिस्थितियों में व्यक्ति का सबसे अधिक कल्याण सिद्ध हो सकता है और उसको प्राप्त करने के कौन-कौन से साधन हैं। इस संबंध से अल्पविकसित शिक्षाओं का जन्म होता है—निम्नतम प्रकार की 'एपीक्युरियन' शिक्षा, सदाचार की मुसलमानी शिक्षा जो इस दुनिया और अगली दुनिया में पार्थिव व्यक्तिगत आनन्द दिलाने का आश्वासन देती है, गिर्जा-सम्मत ईसाई शिक्षा जो व्यक्ति को मुक्ति दिलाने, खास तौर पर दूसरी दुनिया में सुख पहुंचाने की कल्पना करती है, और लौकिक उपयोगितावादी नैतिकता की शिक्षा जो केवल इसी दुनिया में व्यक्ति के कल्याण की कामना करती है—इन सब शिक्षाओं का जन्म प्रथम प्रकार के संबंध से होता है।

इसी शिक्षा से, जिसमें व्यक्तिगत कल्याण को ही जीवन का लक्ष्य माना जाता है और इसलिए व्यक्तिगत कष्ट-सहन से मुक्ति की आकांक्षा रखी जाती है, असंस्कृत रूप में बुद्ध-धर्म की नैतिक शिक्षाओं और निराशा-वादियों की भौतिक शिक्षाओं का जन्म होता है।

दूसरे प्रकार के संबंध से, जिसमें व्यक्तियों के समूह का हित सिद्ध करना जीवन का लक्ष्य समझा जाता है, नैतिकता-संबंधी उस शिक्षा का जन्म होता है, जिसके अनुसार मनुष्य को उस समूह की सेवा करनी होती है जिसका हित सिद्ध करना जीवन का लक्ष्य समझा जाता है। इस शिक्षा के अनुसार व्यक्तिहित का उसी हद तक खयाल रखा जा सकता है जिस हद तक वह सारे समूह के लिए प्राप्त किया जा सकता है। इस संबंध से नैतिकता-संबंधी उन सुप्रसिद्ध रोमन और यूनानी शिक्षाओं का जन्म होता है जिनमें व्यक्तित्व को हमेशा समाज के लिए कुर्बान कर दिया जाता है। चीनी नैतिकता का जन्म भी उसीसे होता है। यहूदियों की नैतिकता का जन्म भी इसी संबंध से होता है, जिसके अनुसार व्यक्ति के कल्याण को प्रभु के प्यारे पुत्रों के कल्याण पर कुर्बान कर दिया जाता है। इस युग की गिर्जे की और राष्ट्रीय नैतिकता का जन्म भी इसी संबंध से होता है जिसके अनुसार राष्ट्र की भलाई के लिए व्यक्ति को बलिदान करने के लिए कहा जाता है। विश्व के प्रति इस संबंध से ही अधिकांश स्त्रियों की नैतिकता का जन्म होता है जो अपने परिवार और खास कर अपने बच्चों की खातिर अपने सारे व्यक्तित्व को बलिदान कर देती हैं।

सारे प्राचीन इतिहास में और कुछ हद तक मध्य कालीन और आधुनिक इतिहास में इसी कौटुम्बिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय नैतिकता के उदाहरण भरे पड़े हैं। इस जमाने के अधिकतर लोग जो यद्यपि यह समझते हैं कि वे ईसाई नैतिकता को मानते हैं, क्योंकि वे ईसाई धर्म को मानते हैं, किंतु वास्तव में वे इसी कौटुम्बिक और राष्ट्रीय नैतिकता को मानते हैं और अगली पीढ़ी को शिक्षा देते समय इसी को आदर्श रूप में उसके सामने उपस्थित करते हैं।

तीसरे प्रकार के धार्मिक संबंध से, जिसमें मनुष्य अपने-आप को जगन्नियंता के उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए उसका साधन समझता है, उस नैतिक शिक्षा का जन्म होता है जो उसी के अनुसार जीवन का अर्थ करती है और यह बताती है कि मनुष्य जगन्नियंता की इच्छा के आधीन है और वह उससे क्या काम लेना चाहता है। संसार में जितनी भी सर्वश्रेष्ठ नैतिक शिक्षाएं हैं, उन सबका जन्म इसी संबंध से होता है। ब्राह्मण-धर्म, बुद्ध-धर्म, ताओ-धर्म और यूनानी धर्म और ईसाई धर्म की शुद्ध शिक्षाओं की गणना हम इस श्रेणी में कर सकते हैं। इनमें यह कहा गया है कि उस प्रभु की इच्छा की पूर्ति करने के लिए जिसने हमें संसार में भेजा है मनुष्य को न केवल अपना व्यक्तिगत हित, बल्कि कुटुम्ब, समाज और देश का हित भी बलिदान कर देना चाहिए और प्रभु की यह इच्छा अपने अन्तःकरण से जानी जाती है। इस प्रकार मनुष्य विश्व के प्रति उपरोक्त तीनों प्रकारों में से जिस किसी प्रकार का संबंध स्थापित करता है, उसी के अनुसार उसकी वास्तविक और विशुद्ध नैतिकता का जन्म होता है। जिस नैतिकता को मानने का वह दावा करता है अथवा जिस नैतिकता का वह प्रचार करता है, वह उसकी वास्तविक नैतिकता से बिलकुल भिन्न वस्तु हो सकती है। वह बाहर से अपना कैसा भी रूप रखने का प्रयत्न कर सकता है; किंतु उसका असली रूप उपरोक्त संबंधों की कल्पना के अनुसार ही होगा।

इस प्रकार जो मनुष्य विश्व के प्रति अपने संबंध की वास्तविकता इसी बात में समझता है कि अपने लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त किया जाय, वह भले ही यह कहता रहे कि वह अपने कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र, मानवता अथवा परमात्मा की इच्छा की पूर्ति के लिए जीवित रहना नैतिक समझता है और वह चाहे जितनी चतुराई के साथ दंभ क्यों न करे और लोगों को धोखा क्यों न दे, किंतु हमेशा उसका असली उद्देश्य केवल अपना व्यक्तिगत हित-साधन ही रहेगा। इस प्रकार जब उसके सामने चुनाव करने का अवसर आता है तो वह अपने परिवार,

राष्ट्र अथवा ईश्वर के आदेश के मुकाबले में अपने व्यक्तित्व का बलिदान नहीं करता, बल्कि अपनी खातिर इन सबका बलिदान कर देता है। चूंकि वह व्यक्तिगत हित-साधन को ही जीवन का लक्ष्य समझता है, इसलिए वह इसके अलावा और कुछ कर ही नहीं सकता, जबतक कि वह विश्व के प्रति अपने संबंध की कल्पना में परिवर्तन नहीं करता।

इसी प्रकार जो अपने परिवार की सेवा करना (जैसा कि अधिकांश स्त्रियां समझती हैं) अथवा अपने वंश या राष्ट्र की सेवा करना जीवन का लक्ष्य समझता है (जैसा कि दलित जातियों और लड़ाई-झगड़ों के समय क्रियाशील राजनीतिज्ञ समझते हैं),वह अपने आप को चाहे जितना ईसाई घोषित क्यों न करे, उसकी नैतिकता हमेशा कौटुम्बिक अथवा राष्ट्रगत होगी, धार्मिक नहीं और जब कभी परिवार अथवा सामाजिक हित और अपने व्यक्तिगत हित अथवा ईश्वर के आदेशों की पूर्ति में संघर्ष उत्पन्न होता है तो वह अनिवार्यतः उस समूह की सेवा करना पसन्द करता है, जिसके लिए वह अपने जीवन का अस्तित्व आवश्यक समझता है, क्योंकि इस प्रकार की सेवा को ही वह जीवन का लक्ष्य समझता है। इसी प्रकार जो ईश्वर के आदेशों की पूर्ति करना जीवन का उद्देश्य समझता है, उसको आप चाहे जितना समझाइये कि अपना, अपने परिवार, अपनी जाति, साम्राज्य अथवा समस्त मानव-जाति का हित-साधन करने के लिए ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना की जा सकती है (विवेक और प्रेम के सहारे ईश्वरीय आदेश जाना जाता है), परन्तु वह ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करने की अपेक्षा समस्त मानव-जिम्मेदारियों को बलिदान कर देगा; कारण की वह इस प्रकार के आचरण को ही जीवन का लक्ष्य समझता है।

नैतिकता धर्म से पृथक नहीं हो सकती, क्योंकि वह धर्म से उत्पन्न ही नहीं होती, बल्कि धर्म में ही उसका समावेश होता है। प्रत्येक धर्म इस प्रश्न का उत्तर देता है—"मेरे जीवन का क्या लक्ष्य है?" धर्म इस प्रश्न का जो उत्तर देता है उसमें कुछ नैतिक आदेशों का समावेश होता है जो

जीवन के लक्ष्य का स्पष्टीकरण करते हैं। "जीवन का क्या उद्देश्य है ?" इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है : "व्यक्तिगत हित-साधन ही जीवन का लक्ष्य है, इसलिए तुम्हें जो साधन उपलब्ध हैं, उनका अधिक-से-अधिक उपयोग करो।" अथवा "अमुक जन-समूह का हित-साधन करना जीवन का लक्ष्य है, इसलिए शक्ति भर उस समूह की सेवा करो।" अथवा "जिस ईश्वर ने तुमको इस दुनिया में भेजा है, उसकी इच्छा की पूर्ति करना जीवन का लक्ष्य है, इसलिए उस इच्छा को जानने और पूरा करने की शक्ति भर कोशिश करो।" अथवा इसी प्रश्न का यों भी उत्तर दिया जा सकता है— "तुम्हारे जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुखोपभोग है, कारण मनुष्य-जीवन का यही लक्ष्य होता है।" अथवा "उस समुदाय की सेवा करना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है, जिसके कि तुम अपने आपको अंग समझते हो, कारण यही तुम्हारा भवितव्य है अथवा ईश्वर की सेवा करना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है, कारण यही तुम्हारी भाग्य-रेखा है।"

धर्म जीवन के लक्ष्य की जो व्याख्या करता है, उसी में नैतिकता का समावेश होता है और इसलिए किसी भी तरह उसको धर्म से जुदा नहीं किया जा सकता। गैर ईसाई दार्शनिकों के प्रयत्नों में यह सत्य विशेष रूप से प्रकट है जिन्होंने अपने तत्वज्ञान के द्वारा सर्वश्रेष्ठ नैतिकता का तिपादन करने का प्रयत्न किया है। इन दार्शनिकों का मत है कि ईसाई नैतिकता अनिवार्य है, हम उसके विना जिन्दा नहीं रह सकते। वे तो यह भी मानते हैं कि वह पहले ही अस्तित्व में आ चुकी है। वे उसको गैर ईसाई तत्वज्ञान के साथ संवद्ध करने का कोई-न-कोई मार्ग निकालना चाहते हैं और वे तथ्यों को इस रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न करते हैं मानो ईसाई नैतिकता का उनके निम्न श्रेणी के सामाजिक तत्वज्ञान से उद्‌भव हुआ हो। यही उनकी कोशिश होती है; किंतु अन्य किसी वात की अपेक्षा उनके लिए खुद के प्रयत्न ही यह सिद्ध कर देते हैं कि ईसाई नैतिकता न केवल व्यक्तिगत अथवा सामाजिक तत्वज्ञान से पृथक है, वल्कि व्यक्तिगत हित-साधन करने अथवा व्यक्तिगत कष्टों से छटकारा पाने अथवा सामाजिक हित साधन करने को

अपने लक्ष्य वताने वाले तत्वज्ञान के सर्वथा विरुद्ध है।

ईसाई नैतिकता, जिसको हम अपनी जीवन की धार्मिक कल्पना के अनुसार स्वीकार करते हैं, कहती है कि न केवल समाज के लिए व्यक्ति का वलिदान कर दो, वल्कि ईश्वर की सेवा के निमित्त व्यक्ति और समाज दोनों को त्याग दो। इसके विपरीत सांसारिक तत्वज्ञान केवल इस वात का पता लगाता है कि किस प्रकार व्यक्ति अथवा समाज के लिए अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त किया जा सकता है। अतः दोनों में अन्तर अनिवार्य है। इस अन्तर को छिपाने का एक ही उपाय है और वह यह कि एक के वाद एक सशंत कल्पनाओं का जाल विछा दिया जाय और अध्यात्मवाद के धुंवले क्षेत्र से वाहर कदम न रखा जाय।

उत्थान काल के पश्चात जितने भी दार्शनिक हुए हैं, उन्होंने यही किया है। पूर्व स्वीकृत ईसाई नैतिकता के आदेशों के साथ सांसारिक आधार पर निर्मित तत्वज्ञान के आदेशों का मेल विठाने की असंभव कोशिश का ही यह फल है कि आधुनिक तत्वज्ञान में हमको घोर अवास्तविकता, अस्पष्टता, गहनता और जीवन से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। स्पिनोजा और काण्ट इसके अपवाद हुए हैं। स्पिनोजा अपने को ईसाई नहीं कहता था; किंतु उसका तत्वज्ञान सच्चे ईसाई आधारों पर विकसित हुआ है और काण्ट एक प्रतिभाशाली पुरुष था। उसने जिस नैतिक प्रणाली का प्रतिपादन किया, उसको अपने आध्यात्म-ज्ञान पर अवलम्वित नहीं रखा। इन दोनों तत्ववेत्ताओं के अलावा शेष तत्ववेत्ताओं, यहां तक कि प्रतिभाशाली शोपनहार तक ने अपने नीति-नियमों और अपने आध्यात्म-ज्ञान के वीच प्रकट रूपेण कृत्रिम संवंध जोड़ने का प्रयत्न किया है।

यह महसूस किया जाता है कि ईसाई नीति-नियम ऐसे नियम हैं, जो पहले ही स्वीकार कर लिये जाने चाहिएं। ये स्वयंसिद्ध नियम हैं और किसी तत्वज्ञान पर निर्भर नहीं करते। उनको कृत्रिम सहारों की आवश्यकता नहीं। यह भी महसूस किया जाता है कि तत्वज्ञान केवल कुछ तथ्यों का प्रतिपादन करता है ताकि नीति-नियम उसका खण्डन न कर सकें,

वल्कि उसके साथ जुड़े हुए रहें और ऐसा प्रतीत हो, मानो उसीसे उनका जन्म हुआ है। इस प्रकार के तथ्यों का जव हम सूक्ष्म रूप में विचार करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो वे ईसाई नीति-नियमों का ही समर्थन करते हैं। किंतु ज्योंही उनको व्यावहारिक जीवन के नियमों पर लागू किया जाता है त्योंही तत्वज्ञान और नैतिकता में असमानता और प्रकट विसंगतता पूर्ण रूप से नजर आने लगती है।

अभागे नीत्शे ने, जो पिछले दिनों इतना प्रसिद्ध हो चुका है, इस विरोधाभास का भण्डा-फोड़ करके वहुमूल्य सेवा की है। वह कहता है कि प्रचलित अ-ईसाई तत्वज्ञान के लिहाज से नैतिकता के तमाम नियम असत्य और दंभ के नमूने हैं और यह कहीं अधिक लाभदायक, सुखदायक और युक्ति-युक्त है कि मनुष्य अपने ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषों का निर्माण करे और खुद भी एक महापुरुष वन जाय, वजाय इसके कि वह अकिंचनों में एक अकिंचन वन-कर रहे, जिन्हें कि महापुरुषों के लिए फांसी के तख्ते का काम अंजाम देना पड़ता है। नीत्शे के इस कथन का खण्डन नहीं किया जा सकता। जीवन के सांसारिक दृष्टि-कोण पर अवलम्वित तात्विक मन्तव्यों से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि जिस हित की वह कामना करता है, जिसको वह समझता है और जो उसे अपने लिए अथवा अपने कुटुम्व या समाज के लिए सम्भव प्रतीत होता है, उसके लिए नहीं, वल्कि दूसरों की भलाई के लिए जीवित रहना अधिक लाभदायक और वुद्धिमत्तापूर्ण है। दूसरों की भलाई की उसे न इच्छा होती है, न समझ और न वह अपनी अल्प मानव-शक्ति से उसको प्राप्त ही कर सकता है। जो तत्वज्ञान मनुष्य के कल्याण तक मर्यादित जीवन के दृष्टिकोण पर आधार रखता हो, वह तर्क पर भरोसा रखनेवाले उस व्यक्ति के आगे; जो यह जानता है कि वह किसी भी क्षण मर सकता है, यह सावित नहीं कर सकता कि उसके लिए यह अच्छा है और उसे अपना मनोवांछित, वुद्धिगम्य और असंदिग्ध हित छोड़ देना चाहिए, दूसरों के किसी निश्चित हित के लिए नहीं (कारण वह यह कभी जान नहीं सकता कि उसके वलिदानों का क्या परिणाम निकलेगा) वल्कि केवल इस

खयाल से कि ऐसा करना सही या अच्छा है—अर्थात् वह यह सिद्ध नहीं कर सकता उसके लिए वैसा करना स्पष्ट रूप से आवश्यक है।

सांसारिक तत्वज्ञान के लिहाज से ऐसा साबित करना असम्भव है। सब लोग बराबर हैं, दूसरों से अपना काम कराने के लिए उनके जीवन को कुचलने की अपेक्षा यह अच्छा है कि मनुष्य दूसरों की सेवा के लिए अपना जीवन बलिदान कर दे, यह साबित करने के लिए उसको विश्व के प्रति अपने सम्बन्धों की पुनः व्याख्या करनी पड़ेगी। उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि मनुष्य की स्थिति ही ऐसी है कि उसके सामने एक ही मार्ग है, उसके जीवन का एक ही लक्ष्य है कि जिस परमात्मा ने उसको इस संसार में भेजा है, उसकी इच्छा की पूर्ति करे और वह इच्छा यह है कि उसे मनुष्यों की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर देना चाहिए। विश्व के प्रति मनुष्य के सम्बन्धों में यह परिवर्तन धर्म के द्वारा ही हो सकता है।

भौतिक विज्ञान के मूलभूत आधारों द्वारा ईसाई नैतिकता का प्रतिपादन करने और उनके साथ उसका मेल बिठाने की कोशिशों का यही परिणाम होता है। आप चाहे जितनी बाल की खाल खींचें और चाहे जितना दंभ करें, इस सरल और स्पष्ट सत्य को नहीं मिटाया जा सकता कि विकास का कानून जो आजकल के समस्त विज्ञान का मूलाधार है, इस सामान्य, शाश्वत और अपरिवर्तनीय कानून पर आश्रित है कि जीवन के लिए संघर्ष हो रहा है और उसमें वही सफल होता है जो सबसे अधिक बलवान होता है। इसलिए हरेक मनुष्य को अपना और अपने समुदाय का कल्याण सिद्ध करने के लिए अपने को और अपने समुदाय को सबसे अधिक बलवान बनाना चाहिए, ताकि वह और उसका समुदाय नष्ट न हो, बल्कि जो कम बलवान हो, वही नष्ट हो।

इस कानून के तर्क-संगत परिणामों और मानव-जीवन पर उनको लागू करने की कल्पना से भयभीत होकर कुछ प्रकृतिवादी शब्दों द्वारा इस विषय को जटिल बनाने और इस कानून की कठोरता को कम करने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, उनके प्रयत्नों का सिर्फ यही नतीजा

निकलता है कि इस कानून की अनिवार्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। यह कानून समस्त ऐंद्रियिक सृष्टि पर शासन करता है और चूंकि मनुष्य भी पशु ही समझा जाता है, इसलिए वह भी इसी के आधीन है।

जब मैंने यह लेख लिखना प्रारम्भ किया तो मि० हक्सले का एक लेख रूसी-भाषा में प्रकट हुआ। यह उस भाषण का सार था जो मि० हक्सले ने किसी अंग्रेजी संस्था के सामने 'विकास और नैतिकता' विषय पर दिया था। इस लेख में विद्वान प्रोफेसर ने सुप्रसिद्ध रूसी प्रोफेसर वेके-टोफ और इस विषय के अन्य लेखकों की भांति यह सिद्ध करने की असफल कोशिश की है कि जीवन के लिए संघर्ष का नियम नैतिकता का खण्डन नहीं करता और यह कि जीवन-संघर्ष को जीवन का मौलिक नियम मान लेने के साथ-साथ नैतिकता न केवल कायम रह सकती है, बल्कि उन्नति भी कर सकती है। मि० हक्सले के लेख में प्राचीन धर्म और दर्शन पर तरह-तरह के विनोदात्मक वाक्य, पद्य और सामान्य विचार भरे पड़े हैं और फलस्वरूप वह इतना अलंकारपूर्ण और जटिल हो गया है कि बहुत अधिक प्रयत्न करने पर ही उसकी मूलभूत कल्पना का पता लग पाता है। वह कल्पना इस प्रकार है : विकास का नियम नैतिक नियम के विरुद्ध जाता है। प्राचीन यूनानियों और हिन्दुओं को इस बात का पता था। इन दोनों के तत्व-ज्ञान और धर्म ने उनको आत्म-त्याग के सिद्धान्त को अपनाने के लिए प्रेरित किया। लेखक का खयाल है कि यह सिद्धान्त सही नहीं है। सही सिद्धान्त यह है : एक नियम है जिसको लेखक विकास का नियम कहता है और जिस-के अनुसार सब प्राणी आपस में संघर्ष करते हैं और जो सबसे बलवान होता है, वही जीवित रहता है। मनुष्य भी इसी नियम के आधीन है। इसी की कृपा का फल है कि मनुष्य उसकी आज की स्थिति में पहुंच पाया है; किन्तु यह नियम नैतिकता के विपरीत पड़ता है। तब फिर उसका नैतिकता के साथ सामंजस्य कैसे हो सकता है? यह इस प्रकार हो सकता है—सामाजिक उन्नति का भी एक नियम है। वह संघर्ष के नियम पर अंकुश रखने का प्रयत्न करता है और उसके स्थान पर दूसरी अर्थात् ऐसी नैतिक प्रणाली जारी

करना चाहता है जिसके अनुसार सबसे बलवान नहीं, बल्कि नैतिक अर्थों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, वह जीवित रहे। मि० हक्सले ने यह नहीं बताया कि यह नैतिक प्रणाली आखिर उत्पन्न हुई कहां से? किन्तु वह कहता है कि इस प्रणाली के मूल में एक ओर तो यह तथ्य है कि पशुओं की भांति मनुष्य भी समूह में रहना पसन्द करते हैं और इसलिए समाज के लिए हानिकर गुणों को दबा कर रखते हैं तथा दूसरी ओर यह बात भी होती है कि समाज के लोग समाज के हित के विरुद्ध पड़नेवाली प्रवृतियों को बलपूर्वक दबा देते हैं। मि० हक्सले का यह खयाल प्रतीत होता है कि अपने समूह को कायम रखने के लिए और समाज के दण्ड के भय से मनुष्य अपनी इच्छाओं को संयत रखने के लिए बाध्य होता है और इसीलिए वह नैतिक कानून बना है जिसका मि० हक्सले अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं। मि० हक्सले इतने भोले हैं कि अंग्रेजी समाज में निम्न श्रेणियों की दरिद्रता, धनियों की निरंकुश विलासिता, अफीम और शराब का व्यापार, फांसी लगाने की प्रथा, व्यापार और राजनीति की खातिर आदिम निवासियों की निर्मूल करने की योजना, गुप्त व्यभिचार और दंभ आदि दोषों के होते हुए भी यह मान लेते हैं कि जो मनुष्य पुलिस के नियमों को भंग नहीं करता, वह सदाचारी व्यक्ति है, नैतिक कानून को मानता है। वे यह भूल जाते हैं कि जिस समाज में मनुष्य रहता है, उस समाज को कायम रखने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे उस समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं, जिस प्रकार कि लुटेरों के एक दल के लोगों के गुण उस दल के लिए उपयोगी हो सकते हैं अथवा हमारे अपने समाज में जल्लादों, जेलरों, न्यायाधीशों, सैनिकों और पाखण्डी पण्डे-पुजारियों के गुणों का हम उपयोग करते हैं, किन्तु इन गुणों का नैतिकता के साथ कोई सरोकार नहीं हो सकता।

नैतिकता एक ऐसी वस्तु है, जिसका निरन्तर विकास होता रहता है, इसलिए अमुक समाज के प्रचलित नियमों का पालन करने और बन्दूक की नोंक अथवा फांसी (मि० हक्सले ने इन्हीं को नैतिकता के अस्त्र कहा है) के जरिये उन नियमों को कायम रखने से नैतिकता न केवल कायम ही नहीं

रहेगी, बल्कि इस प्रकार तो नैतिकता का भंग करना होगा। इसके विपरीत प्रचलित व्यवस्था का भंग करना अर्थात् मुकद्दमे-बाजी और जन-संहार के कार्यों में हिस्सा न लेना न केवल नैतिकता को भंग न करना होगा, बल्कि नैतिकता के प्रदर्शन का अनिवार्य रूप से द्योतक होगा। ईसामसीह और उनके शिष्यों ने भी तो तत्कालीन रोमन-नियमों का भंग किया था।

प्रत्येक मनुष्य-भक्षी जो यह समझता है कि उसे मनुष्यों का मांस न खाना चाहिए और तदनुसार आचरण करता है, अपने समाज के नियम का भंग करता है। इसलिए यद्यपि किसी समाज का नियम भंग करना अनैतिक हो सकता है, किन्तु ऐसा प्रत्येक नैतिक कार्य, जो नैतिकता की सीमा को बढ़ाता है, वह निश्चय ही समाज की व्यवस्था को उल्लंघन करने वाला होगा। इसलिए यदि समाज में ऐसे नियम का अस्तित्व प्रकट हुआ है जिसके अनुसार समाज की एकता की रक्षा करने के लिए लोग अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देते हैं तो वह नैतिक नियम नहीं कहला सकता, बल्कि इसके विपरीत साधारणतः वह समस्त नीति शास्त्र के विरुद्ध होगा; वह तो छिपे हुए रूप में वही जीवन-संघर्ष का नियम होगा, इस अन्तर के साथ, कि उसकी सीमा व्यक्ति से व्यक्ति-समूह तक विस्तृत हो जाती है। इसमें संघर्ष का अन्त नहीं होता, यह तो केवल हाथ को जरा पीछे की ओर ले जाना हुआ ताकि पहले से भी ज्यादा वेग से प्रहार किया जा सके।

यदि जीवन-संघर्ष का नियम और सबसे बलवान व्यक्ति के जीवित रहने का नियम सृष्टि का शाश्वत नियम हो (यदि हम मनुष्य को पशु की श्रेणी में मान लें तो हमें मानना होगा कि यह सृष्टि का शाश्वत नियम है) तो हम सामाजिक उन्नति की कल्पना और उससे उद्भव होनेवाले अथवा जब कभी हमें जरूरत हो तभी किसी अज्ञात स्रोत से प्रकट होने वाले नैतिक कानून के बारे में चाहे जितना गहन वादविवाद करें, उक्त 'शाश्वत' नियम को आंच नहीं आ सकती।

यदि सामाजिक प्रगति की कल्पना, जैसा कि मि० हक्सले हमको बताते हैं, मनुष्यों को समूह-रूप में एकत्र कर देती है तो उन परिवारों,

खानदानों और राष्ट्रों में संघर्ष जारी रहेगा और यह संघर्ष न केवल ज़्यादा नैतिक नहीं होगा, वल्कि जैसा कि हम वास्तविक जीवन में देखते हैं, व्यक्तियों के संघर्ष की अपेक्षा अधिक निर्दय और अधिक अनैतिक होगा। यदि हम असम्भव को संभव मान लें और यह कल्पना करें कि अगले हजार वर्षों में सारी मानव-जाति केवल सामाजिक प्रगति की भावना द्वारा एक इकाई वन जायगी और एक ही जाति और एक राष्ट्र के झण्डे तले एकत्र हो जायगी, तो भी (यदि हम इस खयाल को एक ओर रख दें कि जातियों और राष्ट्रों में जिस संघर्ष का अन्त हो चुका होगा, वह मनुष्यों और प्राणि-जगत में जारी रहेगा और यह संघर्ष सदा संघर्ष ही रहेगा अर्थात् जिस ईसाई नैतिकता की सम्भावना हम स्वीकार करते हैं, उसकी सीमा से वह परे रहेगा) इस महासंघ के व्यक्तियों, परिवारों, खानदानों और जातियों में संघर्ष खत्म न होगा, वल्कि नये रूप में जारी रहेगा, जैसा कि हम व्यक्तियों, परिवारों, जातियों और राष्ट्रों के सभी समूहों में देखते हैं। परिवार के लोग वाहरी लोगों के साथ लड़ते-झगड़ते हैं तो आपस में भी लड़ते-झगड़ते हैं और वहुधा आपस में ज्यादा मात्रा में और अधिक शत्रुता के साथ लड़ते हैं। यही अवस्था एक राष्ट्र में दिखाई देती है। एक राष्ट्र में जो लोग रहते हैं उनमें लड़ाई होती रहती है जिस प्रकार कि दूसरे राष्ट्र में रहनेवाले लोगों के साथ होती है, सिर्फ उस लड़ाई का रूप वदल जाता है। एक उदाहरण में तीरों और चाकुओं से हत्या होती है और दूसरे में भूख के द्वारा। यदि परिवार और राष्ट्र दोनों में कमजोरों की रक्षा होती है तो वह सामाजिक एकता के कारण नहीं, वल्कि इसलिए होती है कि परिवारों और राष्ट्रों में आवद्ध लोगों में प्रेम और त्याग की भावना विद्यमान होती है। परिवार के वाहर यदि दो वच्चों में से जो ज्यादा वलवान होता है, वह जिन्दा रहता है तो एक भली माता के परिवार में दोनों वच्चे जीवित रहते हैं, और इसका कारण परिवारों का संगठन नहीं होता, वल्कि यह माता का प्रेम और त्याग का परिणाम होता है। सामाजिक संगठन द्वारा न तो त्याग का और न प्रेम का उदय हो सकता है।

यह कहना कि सामाजिक संगठन से नैतिकता पैदा होती है, ठीक वैसा ही है जैसा कि यह कहना कि चूल्हों के वनाने से गर्मी पैदा होती है। गर्मी सूरज से पैदा होती है और चूल्हे से गर्मी तभी पैदा होती है जब उसमें ईंधन डाला जाता है, जो सूरज के द्वारा बनता है। इसी प्रकार नैतिकता का जन्म धर्म से होता है। विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन उसी समय नैतिकता उत्पन्न कर सकता है जब धार्मिक प्रभाव के परिणामों का उसमें प्रसार होता है और इन्हीं परिणामों का नाम नैतिकता है।

चूल्हों में आग सुलगाई जा सकती है और वे गर्मी दे सकते हैं। यदि आग न सुलगाई जायगी तो वे ठण्डे पड़े रहेंगे। इसी प्रकार समाज-संगठनों में नैतिकता हो सकती है, उस दशा में वे समाज पर नैतिक प्रभाव डाल सकते सकते हैं। यदि उनमें नैतिकता न हो तो उनका समाज पर कोई असर न पड़ेगा।

ईसाई नैतिकता जीवन की सांसारिक अथवा सामाजिक कल्पना पर खड़ी नहीं की जा सकती। वह तत्वज्ञान अथवा विज्ञान से भी नहीं निकाली जा सकती। न केवल यही, वल्कि इनके साथ उसका मेल भी नहीं विठाया जा सकता।

प्रत्येक गम्भीर और पूर्णतः तर्क-संगत तत्वज्ञान और विज्ञान ने इस विषय को हमेशा इसी रूप में समझा है, उनमें विलकुल ठीक कहा गया है—"यदि हमारे मन्तव्य नैतिकता से मेल नहीं खाते तो यह नैतिकता का मंद भाग्य है।" और उन्होंने अपनी खोज जारी रखी।

नैतिक निवन्ध, जिनमें धर्म को आधार नहीं माना जाता, और लौकिक प्रश्नोत्तर लिखे और पढ़ाये जाते हैं और लोग यह खयाल कर सकते हैं कि मानव-जाति उनसे पथ-प्रदर्शन पाती है; किन्तु ऐसा दिखाई ही देता है। कारण लोग वस्तुतः इन निवन्धों और प्रश्नोत्तरियोंके द्वारा अपना मार्ग तय नहीं करते, वल्कि उन धर्मों का आश्रय लेते हैं जिन्हें वे हमेशा मानते आये हैं और अब भी मानते हैं। जो वातें स्वाभाविक रूप से धर्म से निकलती

हैं, इन निबन्धों और प्रश्नोत्तरियों में उनकी केवल झूठी नकल मात्र होती है।

लौकिक नैतिकता के आदेश जो धार्मिक शिक्षा पर अवलम्बित नहीं होते, उनकी तुलना उस आदमी के काम से की जा सकती है जो संगीत तो नहीं जानता, फिर भी निर्देशक के स्थान पर जा बैठता है और अनुभवी संगीतज्ञों के आगे,जो संगीत सुना रहे होते हैं अपने हाथ हिलाने लगता है। थोड़ी देर के लिए तो संगीत, अपने ही प्रवाह के जोर से जारी रहेगा और इसलिए भी जारी रहेगा कि संगीतज्ञों ने पुराने निर्देशकों से कुछ सीखा हुआ होगा। किन्तु यह स्पष्ट है कि एक अनाड़ी आदमी के लकड़ी हिलाने मात्र से कोई नतीजा नहीं निकल सकता, बल्कि अन्ततः उसका इसके सिवाय और कोई परिणाम न निकलेगा कि संगीतज्ञ गड़बड़ में पड़ जायेंगे और आरचेस्ट्रा (एक अंग्रेजी वाद्य) विसंगठित हो जायगा। इसी प्रकार की गड़बड़ आजकल लोगों के दिमागों में पैदा होने लगती है, जब समाज के अगुआ लोगों को ऐसी नैतिकता की शिक्षा देना शुरू करते हैं जो सर्वोत्तम धर्म पर आधारित नहीं होती। इसी प्रकार की नैतिकता को लोगों ने ग्रहण करना शुरू कर दिया है और ईसाई जनसमाज ने एक हद तक उसको ग्रहण भी कर लिया है।

अवश्य ही यह वांछनीय है कि अन्धविश्वासरहित नैतिकता की शिक्षा दी जाय; किन्तु असलियत यह है कि नैतिक शिक्षा उस सम्बन्ध का परिणाम होती है जो मनुष्य संसार के प्रति अथवा ईश्वर के प्रति कायम करता है। यदि यह सम्बन्ध ऐसे रूप में प्रकट होता है जो हमें अन्धविश्वास-मूलक प्रतीत हो तो हम उस सम्बन्ध को ज्यादा विवेकपूर्वक, स्पष्ट और ठीक-ठीक रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करें अथवा इस सम्बन्ध की पुरानी कल्पना को नष्ट भी कर डालें (जो अब नाकाफी हो चुकी है) और उसके स्थान पर अधिक श्रेष्ठतर, स्पष्टतर और अधिक विवेकपूर्ण कल्पना प्रचलित करें। किन्तु हमको कभी भी कथित लौकिक, धर्म-रहित नैतिकता की योजना न करनी चाहिये जो मिथ्या दलीलों पर आश्रित हो अथवा किसी

पर आश्रित ही न हो।

धर्म से पृथक् नैतिकता प्रचलित करने का प्रयत्न ठीक वैसा ही है जैसा कि बच्चे किया करते हैं। जब वे किसी सुन्दर फूल को दूसरी जगह लगाना चाहते हैं तो उसे उस टहनी से तोड़ लेते हैं जो उन्हें कुरूप या बेकार प्रतीत होती है और बिना किसी मूल के सहारे जमीन में गाड़ देते हैं। किन्तु जिस प्रकार बिना मूल के असली फूल जिन्दा नहीं रह सकता, उसी प्रकार धार्मिक मूल के बिना असली, सच्ची नैतिकता का भी अस्तित्व नहीं हो सकता।

अतः दूसरे प्रश्न का मैं यह उत्तर देता हूं:—"धर्म वह सम्बन्ध है जो मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व और इस असीम विश्व अथवा उसके मूल-कारण परमात्मा के साथ स्थापित करता है और नैतिकता जीवन की वह सदा प्रस्तुत पथ-प्रदर्शिका है जो उस सम्बन्ध से पैदा होती है।"

: ३ :

धर्म और तर्क

क्या उन लोगों को जो विशेष बौद्धिक योग्यता नहीं रखते, आन्तरिक जीवन-सम्बन्धी अपने अनुभवजनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट करना चाहिए ?

क्या अपने आन्तरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करना सार्थक हो सकता है ?

संघर्ष अथवा शंका के समय हम यह कैसे मालूम करें कि जो-कुछ हमको भान हो रहा है वह अन्तःकरण की आवाज है अथवा हमारी अपूर्णताओं द्वारा भ्रष्ट हुई बुद्धि की आवाज है ?

मेरे खयाल से इन तीनों प्रश्नों का सार दूसरे प्रश्न में आ जाता है, कारण यदि हम अपने आन्तरिक जीवन के बारे में पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश न करेंगे तो हम अपने अनुभव-जनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट नहीं कर सकते और शंका पैदा हो जाने पर हमारे पास अन्तःकरण और भ्रमपूर्ण बुद्धि में भेद करने का कोई साधन न होगा। किन्तु यदि हम अपनी मानसिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग करके (चाहे वे अल्प हों या महान्) अधिक-से-अधिक स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना उचित समझेंगे तो हम अपने अनुभव-जनित सत्यों को शब्दों द्वारा प्रकट कर सकेंगे और उन सत्यों के द्वारा, जो अधिक-से-अधिक स्पष्ट और शब्दों द्वारा प्रकट हो चुके होंगे, हम संघर्ष और शंका के समय अपना मार्ग तय कर सकेंगे। इसलिए मूल प्रश्न का उत्तर में 'हां' में देता हूं। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, जिसके लिए कि वह इस संसार में भेजा गया है और वास्तविक कल्याण की प्राप्ति के लिए (दोनों समान हैं), अपने आधारभूत धार्मिक तत्वों को मालूम करने के लिए अपनी सम्पूर्ण बौद्धिक शक्ति खर्च कर देनी

चाहिए। दूसरे शब्दों में उसे जीवन का लक्ष्य स्पष्ट कर लेना चाहिए।

नहरें आदि खोदने का काम करने वाले अपढ़ मजदूरों में, जिनको घन फुट के हिसाब से मजदूरी दी जाती है, मैंने अक्सर यह धारणा प्रचलित पाई है कि गणित के हिसाब भ्रमात्मक होते हैं और उनपर विश्वास न करना चाहिए। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि ये मजदूर गणित नहीं जानते या यह कि जो लोग उनके काम का हिसाब लगाते हैं, वे जान-बूझ कर या अनजाने उनको धोखा देते हैं। कारण कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि इन अपढ़ मजदूरों में परिमाण का अन्दाज लगाने के लिए गणित की पर्याप्तता अथवा उपयोगिता के बारे में अविश्वास घर कर गया है और उनमें से अधिकांश इस अविश्वास को निर्विवाद रूप से सत्य समझ बैठे हैं, जिसे सिद्ध करने की भी वे कोई आवश्यकता नहीं समझते। इसी प्रकार की धारणा उन लोगों में भी घर कर गई है जिनको मैं निर्भय होकर अधार्मिक कह सकता हूं। इन लोगों का खयाल है कि बुद्धि द्वारा धार्मिक समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता; उनको हल करने के लिए जो बुद्धि का प्रयोग किया जाता है वही भ्रांतियों का मुख्य कारण है और धार्मिक समस्याओं को बुद्धि द्वारा हल करना मिथ्या अभिमान का द्योतक है।

मैंने इस बात का उल्लेख इसलिए किया है कि उपरोक्त प्रश्नों में जो यह शंका प्रकट की गई है कि मनुष्य को पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए अथवा नहीं, वह इसी विचार के आधार पर उत्पन्न हो सकती है कि धार्मिक समस्याओं को हल करने के लिए बुद्धि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। किन्तु यह विचार उतना ही विचित्र और गलत है जितना कि यह विचार कि हिसाब के द्वारा गणित के प्रश्नों को हल नहीं किया जा सकता।

मनुष्य को परमात्मा से एक ही साधन मिला है जिसके द्वारा वह अपने-आपको और इस विश्व के प्रति अपने सम्बन्ध को जान सकता है। यह साधन और कुछ नहीं, केवल बुद्धि है। किन्तु एकाएक उसे यह

वतलाया जाता है कि अपने घर, परिवार, व्यवसाय, राजनीति-विज्ञान अथवा कला-सम्बन्धी समस्याओं पर प्रकाश डालने के लिए तो वुद्धि का उपयोग किया जा सकता है; पर उस कार्य के लिए उसका उपयोग नहीं किया जा सकता जिसके लिए वह उसे प्रदान की गई है। दूसरे शब्दों में जिन अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्यों पर मनुष्य का समस्त जीवन निर्भर करता है, उनपर प्रकाश डालने के लिए मनुष्य किसी भी दशा में वुद्धि का उपयोग न करे, वल्कि उन सत्यों को अपनी वुद्धि से पृथक स्वीकार करे, हालांकि अपनी वुद्धि से पृथक वह कुछ नहीं जान सकता। लोग कहते हैं : "स्फूर्ति द्वारा, श्रद्धा द्वारा सत्यों को पहचानो !" किन्तु सचाई यह है कि मनुष्य वुद्धि की सहायता के विना किसी वात को मान भी नहीं सकता। यदि मनुष्य एक वात को मानता है और दूसरी को नहीं तो वह ऐसा सिर्फ इसीलिए करता है कि उसकी वुद्धि उसे यह कहती है कि उसको अमुक वात मानना चाहिए और अमुक नहीं। मनुष्य को वुद्धि का उपयोग नहीं करना चाहिए यह कहना ठीक वैसा ही है जैसा कि उस मनुष्य को जो एक अंधेरी सुरंग में दीपक लिये जा रहा हो, यह कहना कि उसे रास्ता खोजने के लिए दीपक को वुझा देना चाहिए और प्रकाश का नहीं, वल्कि और किसी वस्तु का सहारा लेना चाहिए।

किन्तु शायद यह कहा जायगा कि सभी मनुष्य महान वौद्धिक शक्तियों के स्वामी नहीं होते और खासकर अपने विचारों को प्रकट करने की क्षमता नहीं रखते और इसलिए वे धर्म के सम्वन्ध में अपने विचारों को वेढंगेपन से प्रकट कर गलती कर सकते हैं। इसका मैं वाइविल के शब्दों में यह उत्तर दूंगा कि वुद्धिशाली जिस वात को नहीं जानते, वह शिशुओं को ज्ञात होती है। यह कहावत अत्युक्ति अथवा अलंकार नहीं (वाइविल के जो कथन हमको पसन्द नहीं आते उनके वारे में हम ऐसा ही सोचने के अभ्यस्त हो गये हैं) वल्कि अत्यन्त सरल और निर्विवाद सत्य है। दूसरे शब्दों में इस संसार के प्रत्येक प्राणी के लिए एक कानून वना दिया गया है जिसका उसे अनुसरण करना चाहिए; और इस कानून को जानने के लिए प्रत्येक

प्राणी को योग्य इन्द्रियां दी गई हैं और इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि प्रदान की गई है और उस बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य को उस कानून का ज्ञान होता है जिसका उसे पालन करना चाहिए। इस कानून का केवल उन्हीं लोगों को पता नहीं चलता, जो उसपर अमल नहीं करना चाहते और जो कानून की अवहेलना करने के लिए बुद्धि को तिलांजलि दे देते हैं और सत्य का पता लगाने के लिए जो बुद्धि उन्हें मिली होती है, उसका उपयोग करने के बजाय श्रद्धापूर्वक उन लोगों का पथप्रदर्शन स्वीकार कर लेते हैं जो बुद्धि को तिलांजलि दे चुके होते हैं।

मनुष्य को जिस कानून पर अमल करना चाहिए, वह इतना सरल है कि जिसको हरेक बच्चा भी समझ सकता है। खासकर इसलिए कि मनुष्य को अपने जीवन के इस कानून की कोई नई खोज करनी नहीं पड़ती। हमारे पूर्वज उसकी खोज कर चुके और उसको व्यक्त भी कर चुके। जो मन्तव्य परम्परा में व्यक्त हैं, मनुष्य को केवल अपनी बुद्धि की कसौटी पर उन्हें परख लेना चाहिए और फिर स्वीकार या अस्वीकार कर देना चाहिए। किन्तु जो लोग उस कानून का पालन नहीं करना चाहते, उनकी सलाह पर उसे न चलना चाहिए, परम्परा के खयाल से उसे अपनी बुद्धि की गति को न रोकना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत परम्परा पर बुद्धि का अंकुश रखना चाहिए। मनुष्य ही परम्परा का निर्माण करता है और वह गलत भी हो सकती है; किन्तु बुद्धि निश्चय ही परमात्मा की देन है और गलत नहीं हो सकती। इसलिए सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए खास महान योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, हमको केवल यह मान लेना चाहिए कि सत्य को प्राप्त करने के लिए, मनुष्य के पास बुद्धि न केवल सर्वश्रेष्ठ दैवी गुण है, बल्कि एकमात्र अस्त्र है।

सत्य को जानने और प्रकट करने के लिए नहीं, बल्कि असत्य का आविष्कार करने और उसको प्रकट करने के लिए विशेष योग्यता और बौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है। एक बार जब लोग बुद्धि के पथ-प्रदर्शन को छोड़ देते हैं और उसपर विश्वास करने के बजाय दूसरे लोगों द्वारा

प्रतिपादित सत्य को सहज भाव से स्वीकार कर लेते हैं तो वे आमतौर पर नियमों, ईश्वरीय मन्तव्यों और धार्मिक विधानों की ओट में ऐसे जटिल, अस्वाभाविक और परस्पर असंगत मन्तव्यों का पहाड़ खड़ा कर लेते हैं और उन्हें तत्परतापूर्वक स्वीकार कर लेते हैं कि इन मन्तव्यों को प्रकट करने और सत्य के साथ का उनका मेल विठाने के लिए वस्तुतः भारी बौद्धिक सूक्ष्मता और असाधारण प्रतिभा की आवश्यकता होती है। आप कल्पना कीजिए कि आपने आज की दुनिया में जन्म लिया है और आपको प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा दी गई है। अव यदि आप इन धार्मिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें जो आपको वचपन में सिखाये गये थे और उनका वास्तविक जीवन के साथ मेल विठाने लगें तो आपको अपने सम्प्रदाय की विरोधी वातों में सामंजस्य लाने के लिए कितना भारी बौद्धिक श्रम करना पड़ेगा; अर्थात् यह कि जो ईश्वर सृष्टिकर्ता और दयालु है, वही वुराई को जन्म देता है, लोगों को नरक भेजता है और गुनाहों से छुटकारा देने के लिए भेंट-पूजा चाहता है। हम खुद प्रेम और क्षमा के कानून को मानते हैं, फिर भी हम लोगों को फांसी चढ़ाते हैं, युद्ध करते हैं और गरीवों के परिश्रम का फल छीन लेते हैं।

इस न हल होनेवाली भूल-भुलैया से छुटकारा पाने के लिए अथवा उसपर पर्दा डालने के लिए महान योग्यता और विशेष वौद्धिक प्रतिभा की आवश्यकता होती है; किन्तु अपने जीवन के नियम को जानने अथवा अपने विश्वास के वारे में पूर्ण और स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने के लिए खास वौद्धिक योग्यता की आवश्यकता नहीं; हमको सिर्फ इतनी-सी सावधानी रखना चाहिये कि हम वुद्धि के विपरीत कुछ स्वीकार न करें, अपनी वुद्धि को इन्कार न करें, धार्मिकता के साथ वुद्धि की रक्षा करें और केवल उसीमें श्रद्धा रखें। यदि किसी मनुष्य को अपने जीवन का उद्देश्य अन्धकारमय प्रतीत होता है तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसकी वुद्धि उस उद्देश्य पर प्रकाश डालने में असमर्थ होती है; इससे सिर्फ यह पता चलता है कि उसने अनेक ऐसी वुद्धिविसंगत वातों को स्वीकार कर लिया है;

अतः जिन बातों को बुद्धि की कसौटी पर नहीं कसा गया है, उन्हें दूर हटा देना चाहिए।

इसलिए हमको आन्तरिक जीवन की स्पष्ट जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए या नहीं—इस मुख्य प्रश्न का मैं यह उत्तर देता हूं कि यही सबसे आवश्यक और महत्वपूर्ण बात है जो हमको अपने जीवन में करनी चाहिए। यह इसलिए आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि मनुष्य-जीवन का एकमात्र युक्तियुक्त उद्देश्य परमात्मा की इच्छा की पूर्ति करना है, जिसने कि हमको इस विश्व में भेजा है। किन्तु परमात्मा की इच्छा किसी असाधारण दैवी चमत्कार, देवता की लेखनी, निर्भ्रान्त धर्म-ग्रन्थ अथवा निर्भ्रांत संत या संतों द्वारा नहीं मालूम की जा सकती, बल्कि सब मनुष्यों द्वारा बुद्धि का उपयोग करने से ही वह जानी जा सकती है। वे शब्दों और कार्यों द्वारा सत्य की अनुभूति को एक-दूसरे पर प्रकट करते रहते हैं और यह अनुभूति उनके आगे अधिकाधिक प्रकाशित होती रहती है। यह ज्ञान न तो कभी पूर्ण हुआ है और न आगे होगा, किन्तु ज्यों-ज्यों मानव-जाति प्रगति करेगी, त्यों-त्यों उसमें वृद्धि होगी। जितना ही अधिक हम जीवित रहते हैं, उतना ही हम परमात्मा की इच्छा को जान पाते हैं और फलस्वरूप यह भी जान पाते हैं कि हमको उसे पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए। इसलिए, मेरे खयाल से उन सब सत्यों को जो मनुष्य के लिए सुलभ हैं, समझना और उनको शब्दों द्वारा प्रकट करना (शब्दों द्वारा किसी बात को प्रकट करना विचारों की सम्पूर्ण स्पष्टता का द्योतक होता है) प्रत्येक मनुष्य का, चाहे वह अपने अथवा दूसरों के नजदीक कितना ही छोटा क्यों न प्रतीत होता हो—छोटे ही बड़े होते हैं—एक मुख्य और अत्यन्त पवित्र कार्य है।

❍

टॉल्सटाय-साहित्य

हम करें क्या ? ३॥)

विषम सामाजिक जीवन की समस्याओं पर विचार तथा चिंतन करने वाली जग-प्रसिद्ध पुस्तक । बरसों अप्राप्य रहने के बाद नया संस्करण ।

स्त्री और पुरुष

स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध संयम-प्रधान होना चाहिए, भोग-विलास का नहीं । इसी विषय का पुस्तक में प्रतिपादन किया है ।

मेरी मुक्ति की कहानी १॥)

टाल्स्टाय की जीवन-शोधक आत्मकथा ।

प्रेम में भगवान २)

ये कहानियां अपने समय, समाज और भूमि के बारे में जानकारी कराने वाली नहीं, अपितु नैतिक समस्याओं के समाधान के लिए हैं ।

जीवन-साधना १।)

इन निबन्धों में जीवन को उत्तम बनाने की विधि बताई है ।

कलवार की करतूत ।)

सुरापान की बुराइयों को बतानेवाला रोचक एकांकी ।

बालकों का विवेक ॥।)

'विज़डम ऑव चिल्ड्रन' का अनुवाद । बालकों के लिए उत्तम नाटक ।

बुराई कैसे मिटे ? १)

रूस के लोकप्रिय महर्षि ने इस पुस्तक में मालिक और श्रमजीवी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला है ।

सामाजिक कुरीतियां २)

इस पुस्तक में लेखक ने समाज के दोष-दर्शन और उनके निवारण के उपाय सुझाए हैं । ब्रिटिश शासनकाल में यह पुस्तक जब्त थी ।

हमारे जमाने की गुलामी ॥।)

टालसटॉय की यह प्रसिद्ध रचना 'दी स्लेवरी आव अवर टाइम्स' का अनुवाद है । १९३२ में यह प्रकाशित होते ही राजद्रोहात्मक करार देकर जब्त की गई थी ।

गांधी अध्ययन केन्द्र

तिथि	तिथि